राजस्थानी-साहित्य-माला १

राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियाँ

डा० नरेन्द्र भानावत
एम. ए., पी-एच, डी.
हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर

भूमिका

डा० सत्येन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्व विद्यालय, जयपुर

★

रोशनलाल एण्ड संस
बोरड़ी का रास्ता, जयपुर

प्रकाशक :

रोशनलाल जैन एण्ड सन्स
बोरडी का रास्ता, जयपुर

★

मूल्य ६-००

१९६५

★

मुद्रक :

मातृभूमि प्रिंटिंग प्रेस,
जयपुर

अनुक्रम

★

अपनी बात

'राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियाँ' में मेरे दस निबन्ध संगृहीत हैं। ये निबन्ध किसी क्रम से एक साथ नहीं लिखे गये हैं वरन् अलग-अलग अवसरों पर लिखे गये हैं। 'डॉ० एल० पी० तैस्सितोरि : व्यक्तित्व और कृतित्व' निबन्ध सन् १९५६ में लिखा गया था जब मैं बी. ए. का छात्र था। अखिल भारतीय फूलचन्द बांठिया लेख प्रतियोगिता में यह पुरस्कृत भी हुआ। इस ग्रंथ का अन्तिम निबन्ध 'राजस्थानी का नया रचनात्मक साहित्य' मेरा नवीनतम निबन्ध है जो सन् १९६४ में लिखा गया। एक प्रकार से कहा जा सकता है कि इस संकलन में सन् १९५६ से लेकर १९६४ तक के बीच लिखे गये राजस्थानी साहित्य से संबंधित, मेरे दस लेख संगृहीत हैं। इनमें से कुछ निबन्ध 'परम्परा', 'राजस्थान भारती', 'अजन्ता' आदि पत्रिकाओं में भी प्रकाशित हो चुके हैं।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि ये निबन्ध राजस्थानी साहित्य की सभी प्रवृत्तियों को स्पर्श करते हैं पर इतना अवश्य है कि राजस्थानी साहित्य की आत्मा इन निबन्धों में झांकती रही है। पाठक इन निबन्धों को पढ़ते समय राजस्थानी साहित्य की शक्तिमत्ता, ओजस्विता, विविधता, गरिमा और लोक तत्व से परिचित होता चलता है।

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के हिन्दी विभाग के आचार्य तथा अध्यक्ष डॉ. सत्येन्द्र एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट ने अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी प्रस्तुत ग्रंथ की भूमिका लिखने की जो महती कृपा की है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूं।

यदि इन निबन्धों को पढ़कर साहित्य प्रेमी और जिज्ञासु राजस्थानी साहित्य की विलुप्त होती हुई सम्पदा को संरक्षित करने तथा जगमगाते ग्रन्थ-रत्नों को उद्घाटित करने में किंचित भी अग्रसर हुए तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूंगा।

डॉ० नरेन्द्र भानावत

भूमिका

इधर हिन्दी के वृहद् क्षेत्र में नये–नये अनुसंधानों से कितने ही नये-नये ग्रंथ-रत्नों का उद्‌घाटन हुआ है। ये ग्रंथ-रत्न अनेकों रूपों में महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं। इनके उद्‌घाटन से हिन्दी साहित्य के दृष्टिकोण का स्वरूप भी बदल रहा है और अनेकों धारणाओं में भी परिवर्त्तन हो रहा है। पंजाब में अनेकों ऐसे हिन्दी ग्रंथ प्राप्त हुए हैं जो गुरुमुखी में लिखे होने के कारण अब तक विद्वानों की पहुँच में नहीं आ पाये थे। उन पर इधर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। राजस्थान की खोजों से भी इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रकट हुई है इससे राजस्थान में विद्यमान अतुल साहित्यिक संपत्ति का पता चलता है। कितने ही अनुसंधान हुए हैं और हो रहे हैं, किन्तु इस अपार संपत्ति का पूरा अनुमान अभी तक नहीं लग सका है। अनेकों शोध-संस्थान इस कार्य में प्रवृत्त हुए हैं, वे इस सामग्री को अंधेरे में से बाहर भी ला रहे हैं और उनका परिचय पाने और देने के प्रयत्न भी कर रहे हैं। इस प्रकार इस संपत्ति का कुछ-कुछ लेखा-जोखा जहाँ-तहाँ प्रस्तुत किया गया है। आवश्यक यह प्रतीत हो रहा था कि इस सामग्री का एक व्यवस्थित विवरण भी हो। प्रस्तुत ग्रन्थ "राजस्थानी साहित्य : कुछ प्रवृत्तियाँ" से संभवतः ऐसे ही अभाव की पूर्ति किसी सीमा तक होती है।

डॉ० नरेन्द्र भानावत एक जाने-माने लेखक हैं। इनके कुछ कृतित्व से मैं पहले से परिचित था, पर जयपुर आने पर इनसे मिलने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ और इनके कृतित्व को भी और अधिक देखने का अवसर मिला। डॉ० भानावत एक सीधे सच्चे व्यक्ति हैं, जिन्हें अध्ययन और अनुसन्धान में रुचि है। यह छोटा-सा ग्रंथ उनकी इसी रुचि का एक प्रमाण है।

राजस्थानी साहित्य के विशाल सागर में डुबकी लगाने पर जो रत्न निकले हैं, उनमें से कुछ का विवरण यहाँ इस संग्रह में प्रस्तुत किया गया है।

इस छोटे से संग्रह में लेखक ने पहले राजस्थानी गद्य की विविध विशिष्ट शैलियों और उनमें रचे गये ग्रंथों का परिचय दिया है। इसमें हमें सं० १३०० से लेकर राजस्थानी की समस्त गद्य संपत्ति की शैलीगत समृद्धि को देखकर राजस्थानी पर गर्व होता है। यहाँ की प्रतिभाओं ने कितनी ही प्रभावपूर्ण गद्य यशैलियों को स्वतंत्ररूपेण विकसित किया।

इसी प्रकार 'राजस्थानी बात साहित्य: एक पर्यालोचन' में राजस्थानी कलात्मक गद्य 'बात' संज्ञक परम्परा की संपत्ति का पर्याप्त विस्तार से परिचय दिया है। इसमें लेखक ने अप्रत्यक्षरूपेण लोक-कहानी के ही निर्माण की तकनीक का उद्घाटन किया है, जो न केवल राजस्थानी बात साहित्य की तकनीक है, वरन् लोक-कहानी मात्र की है।

तब इस संग्रह में 'वेलि' विषयक तीन लेख हैं। इनमें 'वेलि' विषयक जितनी भी पृच्छाएँ हो सकती हैं उन पर कुछ न कुछ प्रकाश डाला गया है। 'वेलि' की व्युत्पत्ति, वेलि परम्परा का इतिहास, विविध भाषाओं में 'वेलि' साहित्य, वेलि साहित्य की विशेषताएँ और राजस्थानी वेलि साहित्य का सर्वेक्षण तथा वर्गीकरण देकर, वीर रसात्मक वेलियों का विशेष अध्ययन किया है, और साथ ही 'वेलि- क्रिसन रुक्मणी री,' का भी। डॉ० भानावत ने अपनी पी–एच. डी० के लिए 'वेलि' पर ही अनुसंधान किया था, अतः इसके तो ये विशेषज्ञ ही हैं अतः इस निबन्ध का प्रत्येक शब्द प्रमाणिक माना जायेगा।

डिंगल काव्य में वीर और शृंगार रस का सोदाहरण धूप-छांहीं निरूपण बड़ा आकर्षक निबन्ध है। दो प्रमुख और प्रबल रस किस कौशल से डिंगल कवि एक छंद में गूँथ देता है यह तो द्रष्टव्य है ही, इससे राजस्थान की वीर-शृंगारमयी सामाजिक पृष्ठभूमि का संकेत भी मिल जाता है। यद्यपि लेखक इससे आगे नहीं गया, उसका दृष्टिकोण रस की झिलमिली का आनन्द प्रस्तुत करना ही रहा है, पर आगे बढ़ने पर हमें आदिम मूल भावों की सृष्टि का अनुमान लग सकता है।

इसके आगे लेखक ने महाकवि सूर्यमल्ल मिश्रण की प्रसिद्ध कृति 'वीर-सतसई' में नारी-भावना के स्वरूप का उद्घाटन किया है।

'राजस्थानी लोकगीत', 'डॉ० एल. पी. तैस्सितोरि : व्यक्तित्व और कृतित्व' तथा 'राजस्थानी का नया रचनात्मक साहित्य' शीर्षक निबन्ध से ग्रंथ समाप्त हो जाता है।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह विदित होगा कि लेखक ने राजस्थानी साहित्य की कुछ महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है और उनसे संबंधित राजस्थानी साहित्य की पर्याप्त नयी सामग्री भी दी है।

इसके साथ ही हमें लेखक की विश्लेषक प्रवृत्ति तथा सौन्दर्योन्मोचक दृष्टि का भी पता चलता है। वह राजस्थानी साहित्य की नस को पकड़ने में सक्षम है, उसके मर्म को उद्घाटित करने में समर्थ है तथा उसकी पहुँच उन ग्रंथों तक है जो सामान्यत: उपलब्ध नहीं।

इस संग्रह के निबन्धों को पढ़कर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक ने जो लिखा है अपने प्रत्यक्ष अध्ययन के आधार पर ही लिखा है, और यह एक बड़ी उपलब्धि है। उच्छिष्ट सामग्री के उपयोग से अनेको भ्रान्तियाँ जन्म लेती हैं, और उनकी परम्परा चलती चली जाती है। किन्तु यह भय इस लेखक की कृति शैली से नहीं हो सकता।

इस ग्रंथ से हमें राजस्थानी साहित्य की लोक साहित्यिक पृष्ठभूमि का भी ज्ञान होता है। राजस्थान में लोक साहित्य की अद्‌भुत संपत्ति चारों ओर विद्यमान है। साहित्य की उठी हुई गुम्बदों की नींव के रूप में लोक-साहित्य का परिचय प्राप्त करके एक विशेष आनन्द मिलता है। क्योंकि राजस्थानी साहित्य को किसी स्तर पर भी लोक साहित्य से परहेज नहीं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजस्थान की भूमि में ऐपिक-तत्त्व (पुराण काव्यत्व का तत्व) सर्वत्र विद्यमान है जिसमें आदिम मूल मनोवृत्ति की दृष्टता भी पनपती है, रोमांस के रोमांच के साथ पौरुष के पुरुषार्थ के करतब हाथ में हाथ डाले मिल जाते हैं, और उनमें व्याप्त वह प्रतिभा भी खिलती दिखायी पड़ती है जो इस समस्त प्रपंच में मार्मिक अनुभूति को रागात्मक उक्तियों में अभिव्यक्त करती है, जिसे महान से महान कवित्व की संज्ञा दी जा सकती है।

राजस्थानी साहित्य में काव्य की भी अनेकों अनोखी विधाएँ मिलती हैं और गद्य की भी अनेकों विधाएँ मिलती हैं। इन विधाओं का परिचय पाते ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि इतनी विधाओं की सृष्टि क्यों हुई? निश्चय ही मूलतः इन विधाओं का जन्म लोक-क्षेत्र में ही हुआ है। अतः पृष्ठभूमि और साहित्य-कर्म के आधार के रूप में राजस्थानी लोक साहित्य की झलक भी जहाँ-तहाँ हमें मिल जाती है।

डॉ० भानावत ने अन्तिम लेख में राजस्थानी के आधुनिक कृतित्व की भी एक झाँकी दी है।

मुझे पूरा भरोसा है कि डॉ. भानावत की इस कृति का हार्दिक स्वागत होगा।

—डॉ. सत्येन्द्र
[एम. ए., पी-एच॰ डी॰, डी॰ लिट्]

२४ अप्रैल, १९६५

आचार्य तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपर

राजस्थानी गद्य की विशिष्ट शैलियाँ

राजस्थानी साहित्य पद्य की दृष्टि से जितना विशाल, वैविध्यपूर्ण और गरिमामय है गद्य की दृष्टि से भी उतना ही विपुल और विविध प्रकार का है। राजस्थानी गद्य की महत्ता प्राचीनता की दृष्टि से ही नहीं है, अपनी रूपगत एवं शैलीगत विशिष्टताओं के कारण भी वह समूचे भारतीय गद्य साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाये हुए है। राजस्थानी पद्य साहित्य जिस प्रकार अपनी ओजस्विता, चित्रात्मकता और सजीवता के लिए प्रसिद्ध है उसी प्रकार उसका गद्य साहित्य भी अपनी स्पष्ट भाव-व्यंजना, यथातथ्य चित्रणक्षमता और एक विशेष प्रकार की सानुप्रासिक झंकारमयी शैली के लिए विश्रुत है। प्रस्तुत निबन्ध में हमने राजस्थानी गद्य के ऐतिहासिक विकास-क्रम को न छू कर उसके रूपगत एवं शैलीगत वैशिष्ट्य को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया है।

सामान्यतः किसी भी भाषा के साहित्य में पद्य का विकास सर्वप्रथम दिखाई देता है। पर सृष्टि के आरंभ में मानव ने अपने दैनन्दिन व्यवहार में अभिव्यक्ति का माध्यम गद्य ही स्वीकार किया होगा। यही दैनन्दिन व्यवहार की भाषा (जिसे बोली कहना अधिक युक्तिसंगत है) जब बाह्य अलंकरण आदि से संपन्न हो साहित्यिक रूप (निश्चित स्वरूप) ग्रहण कर लेती है तब एक शैली बन जाती है। 'शैली' शब्द अपने आप में कई अर्थ छिपाये है। सामान्य रूप से यह शब्द रचना प्रणाली या रीति का बोधक है। सम्प्रति प्रचलित अर्थ में शैली से गद्य-शैली का ही बोध होता है। प्लेटो के अनुसार जब भाषा में लेखक की अन्तःदृष्टि और आत्म-दर्शन की सघन अभिव्यक्ति होती है, तभी शैली का जन्म होता है। यदि इस कसौटी पर राजस्थानी गद्य को (या किसी भी भाषा के प्राचीन गद्य को) कसा जाय तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि उसकी अपनी कोई शैली नहीं है। 'बोलो तो ताकि मैं तुम्हें जान सकूं' जैसी व्यक्तिपरक शैली के दर्शन प्राचीन राजस्थानी गद्य साहित्य में नहीं होते, हाँ जातिगत या समूहगत शैली की पहचान सरलता से की जा सकती है जैसे:— जैन शैली या चारण शैली।

१— राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित जोधपुर उपनिषद् (मार्च, १९६४) में लेखक द्वारा पठित।

शैली का सम्बन्ध मूलतः वक्तकृत्व-कला से रहा है। किसी को प्रशिक्षण देने के लिए सरल व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग किया जाता है और श्रोता पर प्रभाव डालने के लिए विस्तृत-अलंकृत शैली का। इन्हें क्रमशः 'एटिक' और 'एशिया टिक' शैली कहा गया है। राजस्थानी गद्य में सामान्यतः ख्यातों में पहले प्रकार की और बातों में दूसरे प्रकार की शैली का प्रयोग मिलता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्राचीन राजस्थानी गद्य में 'Style is the man' जैसी शैली का विकास नहीं मिलता, वहां तो गद्य के जो विभिन्न काव्य-रूप हैं उन्हें ही विभिन्न शैलियों के रूप में देखना अधिक समीचीन होगा। इसी आधार पर हम प्राचीन राजस्थानी गद्य की विभिन्न शैलियों का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं।

राजस्थानी पद्य साहित्य में कई काव्य-रूप — रास, रासो, चौपई, संधि, चर्चरी, ढाल, चौढ़ालिया, छःढ़ालिया, वेलि, पवाड़ा, फागु, मंगल, धवल बारहमासा, विवाहलो, संवाद, मातृका, बावनी, कुलक, हीयाली, रेलुका सज्झाय, स्तोत्र, स्तवन आदि—विकसित हुए। इन्हें राजस्थानी पद्य साहित्य की विभिन्न शैलियों के रूप में देखा जा सकता है। राजस्थानी गद्य साहित्य में भी इस प्रकार के कई काव्य-रूप— वचनिका, दवावैत, सिलोका, बालावबोध, टब्बा, ख्यात, वात, पट्टावली, वंशावली, दफ्तर-बही आदि—विकसित हुए। रेखाचित्र द्वारा प्राचीन राजस्थानी गद्य की विशिष्ट शैलियों और उनके रूपों को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है—

प्राचीन राजस्थानी गद्य की विशिष्ट शैलियाँ
(क) मौलिक गद्य
(ख) अमौलिक गद्य
(१) धार्मिक
(२) ऐतिहासिक
(३) कलात्मक
(४) अन्य
(१) टीका
(२) अनुवाद
(अ) जैन शैली
(ब) जैनेतर शैली
(१) वचनिका
(२) दवावैत
(३) सिलोका
(४) वर्णक ग्रन्थ
(५) वात
(अ) बालावबोध
(ब) टब्बा
(अ) जैन शैली
(ब) जैनेतर शैली
(१) गुर्वावली
(२) पट्टावली
(३) वंशावली
(४) उत्पत्ति ग्रंथ
(५) दफ्तर बही
(६) ऐतिहासिक टिप्पण
(१) ख्यात
(२) वात
(३) पीढियावली
(४) हाल-हगीगत
(५) विगत
(६) पट्टा-परवाना
(७) इलकाब नामा
(८) तहकीकात
(९) जन्मपत्रियां
(१०) फैसला
(११) वसीयत नामा
(१) औक्तिक ग्रन्थ
(२) वैज्ञानिक
(३) वैद्यक
(४) ज्योतिष
(५) योग
(६) अभिलेखीय
(७) पत्रात्मक
(८) संस्मरणात्मक
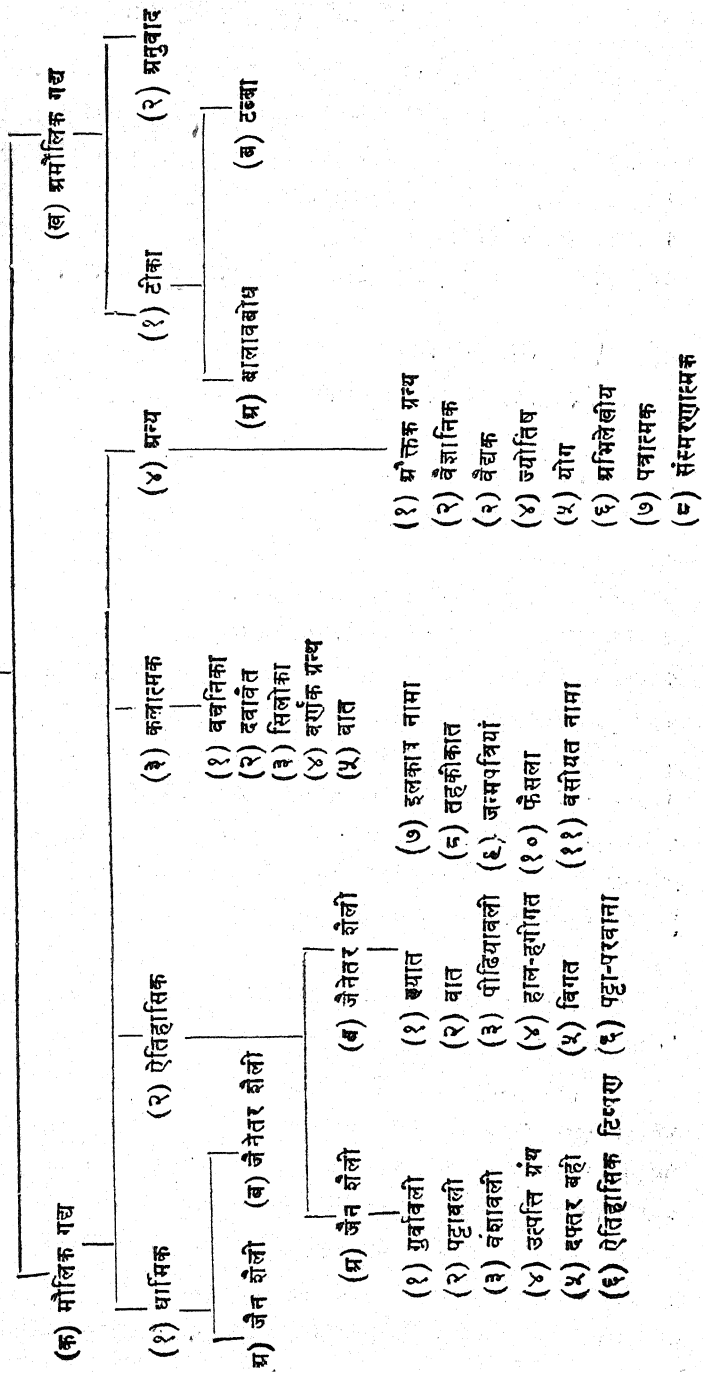
प्राचीन राजस्थान गद्य दो मुख्य रूपों में हमारे सामने आता है । मौलिक और अमौलिक । मौलिक रूप में गद्यकारों ने स्वतंत्र रूप से धार्मिक, ऐतिहासिक, कलात्मक और स्फुट गद्य साहित्य की रचना की । अमौलिक रूप में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में रचित विभिन्न महत्त्वपूर्ण धार्मिक, पौराणिक तथा अन्य विषयों के ग्रंथों की टीकाएँ लिखीं अथवा जन-साधारण तक उन्हें सुलभ बनाने के लिए उनका राजस्थानी में गद्यानुवाद किया ।

(क) मौलिक गद्यः—

स्वतंत्र रूप से जो गद्य साहित्य लिखा गया उसके चार रूप हैं—

(१) धार्मिक गद्य :

राजस्थानी गद्य साहित्य का जो प्राचीनतम रूप मिलता है वह धर्म-भावना से अनुस्यूत है । यह धर्म-भावना मुख्यतः जैन धर्म से संबंधित है । प्रयास काल[1] (सं० १३०० से १४००) में जिन ८ रचनाओं[2] का पता चलता है वे सब जैन विद्वानों द्वारा ही रचित हैं । सं० १३३० में रचित 'आराधना' राजस्थानी गद्य की प्रथम कृति कही जा सकती है जो कि याददाश्त के रूप में लिखी गई एक स्फुट टिप्पणी मात्र है । इसकी भाषा संस्कृतबहुला, सामासिक पदावली से युक्त और अपभ्रंश से प्रभावित है । विकास-काल (सं० १४०० से १६००) में मेरुसुन्दर (अंजना सुन्दरी कथा और प्रश्नोत्तर ग्रंथ) पार्श्वचन्द्र सूरि, जयशेखर-सूरि (श्रावक वृहदतिचार) आदि विद्वानों ने धार्मिक साहित्य की रचना की । विकसित काल (सं० १६०० से १६५०) में आकर धार्मिक साहित्य विस्तीर्ण हुआ । अब उसमें ऐसे व्याख्यान[3] लिखे जाने लगे जिनमें पर्व-विशेष के अनुष्ठान

१—राजस्थानी गद्य साहित्यः उद्भव और विकासः डॉ० शिवस्वरूप शर्मा 'अचल' पृ० ३३

२—(१) आराधना (सं० १३३०) (२) बाल शिक्षा (सं० १३३६) (३) अतिचार (सं० १३४०) (४) नवकार व्याख्यान (सं० १३५८) (५) सर्वतीर्थ नमस्कार स्तवन (सं० १३५९) (६) अतिचार (सं० १३६९) (७) तत्व विचार प्रकरण (लगभग १४ वीं शती) (८) धनपाल कथा (१४ वी शती)

३—श्री आदिनाथ पुत्र प्रथम चक्रवर्त्ति श्री भरत तेहनइ मरीचि इणे नामिइ पुत्र हूयउ । अनेरइ दिवसे आदिनाथ नइ केवलज्ञान ऊपनइ कुंतई अयोध्या आव्या, देवताए समोसरनो रचना कीधी, तिणि अवसर वन-पालिकि आवी भरत नई वधावणी दीधी ।

की विधि का वर्णन रहता अथवा ऐसे प्रश्नोत्तर ग्रंथों[1] की रचना होने लगी जिनमें जिज्ञासु प्रश्न करता और आचार्य उसका उत्तर देकर जिज्ञासा शान्त करते। तत्त्वचर्चा और विधि-विधान को लेकर भी कई ग्रंथ लिखे गये। साधुकीर्ति, जयसोम, शिव-निधान, समयसुन्दर, मतिकीर्ति, संत भीखणजी, जयाचार्य आदि ने स धार्मिक साहित्य को समृद्ध बनाया।

जैनेतर लोगों ने इस प्रकार के धार्मिक साहित्य की मौलिक सृष्टि बहुत कम की। इन्होंने पुराणादि से अनुवाद ही अधिक किया। मौलिक रूप में व्रत-कथाएँ ही अधिक लिखी गई। इन व्रत-कथाओं में एकादशी, नृसिंह-चतुर्दशी, जन्माष्टमी,[2] रामनौमी, सोमवती-अमावस्या, ऋषि-पंचमी, गणेश-चतुर्थी, नाग-पंचमी आदि की कथाएँ प्रमुख हैं।[3]

धार्मिक साहित्य प्रधानतः दो शैलियों में लिखा हुआ मिलता है। जैन-शैली और जैनेतर शैली। दोनों गद्य-शैलियों में इतना अन्तर नहीं मिलता जितना जैन कवियों और चारण कवियों की पद्य शैलियों में मिलता है। जैन-शैली अपेक्षाकृत प्राचीन होने के कारण अपभ्रंश से प्रभावित है जब कि जैनेतर शैली में चलती भाषा का ही प्रयोग हुआ है। उसमें देशज शब्दों को भी समुचित स्थान दिया गया है। इसका एक कारण यह भी रहा कि जैनेतर शैली में यह धार्मिक साहित्य बहुत बाद में जाकर रचा गया। धीरे-धीरे जैन शैली भी अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हो रही थी।

१—चौबीसमें बोलै समय २ अनंती हानि छै ए वचन सूत्र अनुसार छै। पिण कहणमात्र हीज नहीं छै समय २ एकेक वस्तु ना २ पर्याय घटै छै।

—प्रश्नोत्तरसार्द्ध शतक पत्र २ (ख)

२—भादवा मास अंधारा पख री आठम आवै सु जन्माष्टमी रो वरत राजा अमरीख करै छै। राजा बलीप करतो। राजा बिभीषण करतो। बिजाही बड़ा-बड़ा राजा जन्माष्टमी रो वरत करै छै। सु इण वरत कीया से इतरो पुन्य छै। कपिला गाय, सोवन सींगी, रूपा खुरी, तांब पुछी तितरो पुन्य हुवै। नै वले कुरुखेत मांहे सुरज गिरहण मांहे सोनो दीजै, सो भादरबानो दीया रो पुन्य होवै तितरो पुन्य हुवै। वलै जेतराई तीरथ छै, तितरा नायारो फल हूवै, इतरो फल छै।

—राजस्थानी व्रत कथाएँ: पृष्ठ ४६

३—विशेष विवरण के लिए देखिए:—राजस्थानी व्रत-कथाएँ : सम्पादक—गोवर्द्धन शर्मा।

(२) ऐतिहासिक गद्य :

धार्मिक गद्य के बाद ऐतिहासिक गद्य की परम्परा शुरू हुई। यह परम्परा जैन और जैनेतर इन दोनों शैलियों में विकसित हुई। ऐतिहासिक गद्य-लेखन के मूल में अपने वंश, मत-सम्प्रदाय और विगत गौरव तथा वर्तमान जीवन के साहसिक कार्यों को अमर अमिट बनाये रखने की भावना निहित रही है। प्रशस्ति-लेखन की परम्परा तो पुराण से चली आती हुई मिलती है। यह इतिहास-लेखन का कार्य स्वतंत्र रूप से भी चला और पेशेवर लोगों द्वारा भी सम्पादित कराया गया। राजस्थानी गद्य के विकास में इससे बड़ी सहायता मिली।

धार्मिक गद्य की भाँति ऐतिहासिक गद्य को भी प्रारंभिक सहयोग जैन विद्वानों और आचार्यों का ही मिला। इन विद्वानों ने गुर्वावली, पट्टावली, वंशावली, उत्पत्ति ग्रंथ, दफ्तर-बही और ऐतिहासिक टिप्पण के रूप में इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री को सुरक्षित रखा। गुर्वावली में गुरु-परम्परा का विस्तृत और विश्वस्त चरित्र वर्णित रहता है। सं० १४८२ में लिखित श्री जिनवर्धन की 'गुर्वावली' में अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी से लेकर पचासवें पट्टधर आचार्य श्री सोमसुन्दर सूरि तक के तपगच्छीय आचार्यों का विवरण है। पट्टावली[1] में गच्छ विशेष के पट्टधर आचार्यों का जन्म, दीक्षा, साधनाकाल विहार, मृत्यु आदि का विवरण तथा उनकी शिष्य-सम्पदा और प्रभावना का यथातथ्य चित्रण निहित रहता है। उत्पत्ति ग्रंथ[2] में किसी सम्प्रदाय विशेष की उद्भवकालीन परिस्थितियों का, उसके प्रवर्त्तन के कारणों व प्रवर्त्तक की जीवन-रेखा का वर्णन होता है। ये तीनों रूप (गुर्वावली, पट्टावली, और उत्पत्तिग्रंथ) प्रधानतः जैन-श्रमणों और उनके संघों की ऐतिहासिक जानकारी से संबंधित है। जैन श्रावकों की बिवरणिका वंशावली[3] रूप में लिखी गई है। इन वंशात्र-

---

१– तत्पट्टे श्री जिनलब्धि सूरि सं० १४०० वर्षे आसाढ़ वदि ६ दिने पट्टाभिषेक थया। तत्पट्टे श्री जिनचन्द्र सूरि सं० १४०६ वर्षे माह सुदी १० दिने पट्टाभिषेक थया।—बेगड़गच्छ पट्टावली

२– अंचल तोत्पत्ति, रिषमतोत्पत्ति आदि ग्रं

३– करमचन्द सांगावत रो प्र० बेटा २ भागचन्द १ लखमीचन्दर २ भागचन्द रो बेटा १ मनोहरदास १ राजा सूरजसिंघ मुहतां ऊपरि कोपियो तिवारे फौज विदा की थी, माणस १००० मेली साथ घर दोलो फिरीयो।–मुहता बछावतांरी वंशावली

लियों में श्रावकों का वंश, उसका उद्भव और कार्य, श्रावकों के वंशजों का नाम, उनका कार्य और स्थान तथा उनकी वर्तमान स्थिति का चित्रण मिलता है। दफ्तर-बही[1] एक प्रकार की डायरी-शैली है जिसमें रोजनामचे की भाँति दैनिक व्यापारों का विवरण लिखा जाता है। इस विवरण मे न विषय का क्रम होता है न घटनाओं का क्रम। ऐतिहासिक टिप्पण [2] एक प्रकार के स्फुट ऐतिहासिक नोट हैं, जिन्हें व्यक्ति विशेष ने अपनी रुचि के अनुसार संगृहीत कर लिया है।

जैनेतर विद्वानों ने ऐतिहासिक गद्य को जैन विद्वानों की अपेक्षा अधिक व्यापक परिवेश में देखा। इसका कारण यह रहा कि जब अकबर ने सं० १५७४ में पृथक रूप से अपने यहां इतिहास विभाग की स्थापना की तो देशी राज्यों के अधिपति भी बादशाह की दृष्टि में अपने आपको ऊँचा साबित करने की प्रतिस्पर्धा से अपनी मान-मर्यादा का चित्रण इतिहास लिखवा कर कराने लगे। यही लेखन-प्रणाली 'ख्यात' कहलाई। इसके पूर्व भी कुलगुरु, महात्मा और भाट वंशावली तथा पीढ़ियावली लिखा करते थे। लगता है ख्यात इन्हीं वंशावलियों और पीढ़ियावलियों का विकसित और प्रौढ़ रूप है। इन ख्यातों में सामान्यतः प्रसिद्ध राज-वंशों और राजाओं का वंशानुक्रम तथा राज्यानुक्रम से कालक्रमानुसार वर्णन रहता है। यह ठीक है कि कहीं-कहीं ख्यातकारों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की अतिरंजनापूर्ण प्रशंसा की है फिर भी मध्ययुगीन सामन्ती जीवन के सामाजिक इतिहास की दृष्टि से इनका अध्ययन बड़ा महत्वपूर्ण है।

श्री राधेश्याम त्रिपाठी ने इन ख्यातों को चार भागों में विभाजित किया है (१) इतिहासपरक ख्यात (२) बारतापरक ख्यात (३) व्यक्तिपरक ख्यात (४) स्फुट ख्यात। इतिहासपरक ख्यात में किसी एक ही राजवंश के राजाओं का जन्म से लेकर मृत्यु तक विशद वर्णन काल-क्रम से लिखा जाता है। 'दयालदासरी ख्यात' इस वर्ग की प्रतिनिधि रचना है। इसमें बीकानेर के राव बीकाजी से लेकर महाराजा अनूपसिंह तक का इतिहास दिया गया है। दयालदास ने इतिहास धर्म की पूरी रक्षा की है। उसने जहां अपने चरित्र-नायकों की विजयदुंदुभी

१– संवत् १८०६ वर्षे फाल्गुन वदि ११ इष्ट घट्य ११/२५ तदा गुलालचंदरै शिष्य विजयचन्दरी दीक्षाः दीक्षा रौ ग्रंथ रामचन्द्र चंद्रिका भंडार दाखल कीधो।

२– सं० १६१४ चैत्र वदि ६ निवाब कासमखान जैतारण मारी राठौड़ रतनसिंघ खींवावत काम आयो। कोट मांहि छतरी छै। कोठ तो ऊदा सूजावत करायो छै।

३. मध्यकालीन ख्यात साहित्यः परम्परा, भाग १५–

का तन्मय होकर वर्णन किया है वहां उनकी विवशताओं और दुर्बलताओं को भी तटस्थ-भाव से देखा है। वारतापरक ख्यात की प्रतिनिधि रचना 'मुंहता नैणसीरी ख्यात' है। नैणसी ने ख्यात-रचना पद्धति को नवीन रूप दिया। उन्होंने ख्यात का स्वरूप केवल राजवंशी क्रमबद्धता तक ही सीमित न रखकर उसे विविध वार्त्ताओं के संकलन की दृष्टि तक विकसित कर दिया। इस संकलन से जो इतिहास का रूप निखरता है वह किसी एक राजवंश का न होकर विभिन्न राजवंशों और विविध प्रदेशों का है। यहां जो वार्ताएँ आई हैं वे कलात्मक गद्य की बातें न होकर विशुद्ध ऐतिहासिक वार्ताएँ हैं जिनका उद्देश्य घटना-वैचित्र्य और मनोरंजन न होकर तथ्यचित्रण और इतिहास-लेखन है। व्यक्तिपरक ख्यातों में ख्यात लेखक ने अपने किसी एक आश्रय दाता की जी भर कर प्रशंसा की है, उसके पराभव को भी विजयश्री से मंडित दिखलाया है। इन ख्यातों का महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से न्यून है पर तत्कालीन जीवन के सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से अधिक है। स्फुट ख्यातों में उन रचनाओं को रक्खा जा सकता है जो छोटे-छोटे फुटकर 'नोट्स' के रूप में हैं और जिनका कोई क्रम नहीं है। 'बांकीदासरी ख्यात' ऐसी ही रचना है। इसमें २७७६ बातों का संग्रह है। सच्चे अर्थों में इसे ख्यात नहीं कहा जा सकता क्योंकि "लेखक को जब जो बात नोट करने योग्य मिली, उसने तभी उसे नोट कर लिया। उनमें कोई क्रम नहीं है। क्रम से लगाने पर भी उससे शृंखलाबद्ध इतिहास नहीं बनता। अधिकांश बातें दो-दो अथवा तीन-तीन पंक्तियों की ही हैं। पूरे पृष्ठ तक चलने वाली बात कोई बिरली ही है"।[1]

ख्यात के अतिरिक्त वात, हाल, हगीगत, विगत, आदि ऐतिहासिक गद्य के अनेक रूप मिलते हैं। 'ख्यात' की मुख्य विशेषता यह होती है कि उसमें सामन्यतः प्रबन्ध रूप में लिखा हुआ क्रमानुगत वर्णन होता है जबकि ये अन्य रूप किसी एकाध प्रसंग को लेकर ही अपनी यात्रा समाप्त कर लेते हैं। 'ख्यात' और इन 'वात' आदि अन्य रूप बीच एक तीसरा रूप और है जिसमें प्रधानतः एक व्यक्ति के जीवन से संबंधित घटनाओं का विस्तृत वर्णन तथा अन्य प्रासंगिक उल्लेख भी रहते हैं। इस रूप को फारसी के नामा[2] नामक ग्रन्थों के समकक्ष रखा जा सकता है। दलपत विलास[3] इसी प्रकार का एक ग्रन्थ है जिसमें बीकानेर

१—बांकीदास री ख्यात : श्री नरोत्तमदास स्वामी, प्रस्तावना पृ० २

२—बाबरनामा, हुमायूँनामा, अकबरनामा, जहाँगीरनामा आदि ग्रन्थ।

३—सम्पादक : रावत सारस्वत, प्रकाशक—सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर।

ब्रजभाषा में कला के क्षेत्र में गद्य का कोई रूप प्रतिष्ठित नहीं हुआ। गद्य को साधारण ढंग से ही व्यक्त किया गया। बारीकी, कटाव छंटाव व बनाव को पद्य के लिए ही सुरक्षित रखा। राजस्थानी गद्य में यह कलात्मक रूप मुख्यतः ५ विधाओं में मिलता है—वचनिका, दवावैत, सिलोका, वर्णक ग्रंथ और वात। इनमें से प्रथम तीन विधाएँ गद्यबद्ध भी हैं और पद्यबद्ध भी है। संक्षेप में शैली की दृष्टि से यह कलात्मक रूप दो भागों में विभाजित मिलता है (१) गद्य-पद्यात्मक और (२) गद्यात्मक। इसे तुकान्त गद्य और अतुकान्त गद्य भी कहा जा सकता है।

राजस्थानी गद्य की यह अन्त्यानुप्रास-शैली फारसी की अनुप्रासात्मक गद्य शैली और प्राकृत की कथा-आख्यायिकाओं में प्रयुक्त गद्य शैली से प्रभावित हो कती है। 'वचनिका' विधा इस प्रकार की महत्वपूर्ण शैली है। डॉ० टैसी टोरी ने वचनिका की पहचान बतलाई है गद्य की तुकात्मकता, जिसे वामन द्वारा बताए गए वृत्तिगन्धि (जिसमें कहीं ~ पर पद्य सा आभास हो) की कोटि में रखा जा सकता है[1]। पर यही मात्र पहचान 'वचनिका' की नहीं है। गद्य की तुकात्मकता तो और रूपों में भी मिलती है। 'रघुनाथ रूपक' में दिये गये 'वचनिका' के लक्षण को संशोधित करते हुए श्री अगरचन्द नाहटा ने लिखा है[2]—वचनिका के दो भेद होते हैं—

(क) पद्यबद्ध (या पदबद्ध) जिसमें मात्राओं का नियम होता है। इसके दो भेद होते हैं—

(१) जिसमें आठ-आठ मात्राओं के तुक युक्त गद्य खण्ड हों और

(२) जिसमें बीस-बीस मात्राओं के तुक युक्त गद्य खण्ड हों।

(ख) गद्यबद्धः—जिसमें मात्राओं का नियम नहीं होता। इसके भी दो भेद होते हैं—

(३) वारता (कहीं-कहीं तुकान्त गद्य के लिए भी वात, वार्त्ता या वार्तिक नाम का प्रयोग देखा जाता है। या साधारण गद्य।

(४) तुक युक्त गद्य।

'वचनिका' चारण और जैन दोनों शैलियों में मिलती हैं। चारण शैली में लिखी गई 'अचलदास खीचीरी वचनिका' (सिवदास कृत) और 'राठौड़ रतनसिंह जी महेसदासौत री वचनिका' (खिड़िया जग्गा कृत) महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

१– मध्यकालीन हिन्दी गद्य : श्री हरिमोहन श्रीवास्तव, पृ० ४१

२—राजस्थानी साहित्य संग्रह, भाग १ में लिखित 'राजस्थानी गद्य काव्य की परम्परा' शीर्षक लेख।

पहली कृति में गागरौन के खीचीं शासक अचलदास और माडू के सुलतान अलप-खां गोरी[1] का युद्ध वर्णन तथा राजपूतों के जौहर का दृश्य है। इसमें गद्य और पद्य साथ-साथ चलते हैं। गद्य-भाग में युद्ध और सज्जा-वर्णन है तो पद्य भाग में जौहर-वर्णन। गद्यात्मक काव्य और काव्यात्मक गद्य का सशक्त परिचय इस ग्रंथ में पहलीबार मिलता है। यहां जो गद्य प्रयुक्त हुआ है वह तुकान्त[2] भी है और अतुकान्त[3] भी। दूसरी कृति में उज्जैन के समीप हुए युद्ध का वर्णन है। इसमें जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह की ओर से औरंगजेब और मुराद के खिलाफ लड़ते हुए रतलाम नरेश श्री रतनसिंह काम आये। ये रतनसिंह ही इसके नायक हैं इसमें गद्य का अंश बहुत ही कम है। अनुप्रासान्त गद्य[4] का प्रवाह देखते बनता है।

जैन शैली में लिखी गई दो वचनिकाएँ मिली हैं (१) जिनसमुद्रसूरि की वचनिका और (२) शान्तिसागर सूरि की वचनिका। पहली वचनिका में राव मातल के यश का वर्णन है जिन्होंने जिन समुद्र सूरि को ससम्मान अपनी राजधानी में आमंत्रित किया था। दूसरी वचनिका में शांतिसागर सूरि के यश एवं विभिन्न राजघरानों द्वारा किये गये उनके स्वागतोत्सवों का वर्णन है। दोनों रचनाएँ अन्त्यानुप्रासात्मक गद्य में लिखी गई हैं। वर्ण्य-विषय को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चारण शैली में लिखी गई वचनिकाएँ जहाँ युद्ध, जौहर, मृत्यु

१—डॉ० दशरथ शर्मा ने 'साहिआलम' और 'गोरीराव' का यह शुद्ध नाम दिया है। —अचलदास खींचीरी वचनिकाः सं० दीनानाथ खत्री में डॉ० शर्मा का लेख, पृ० ५-६

२—बाहरि साहिझाड़, साहि विभाड़, बलियां साहि कंधि कुदाल, सबल साहि मान-मरदन, निबल साहि थापना चारज, संग्राम साहि··· पृ० २१

३—इसी परित्यां लड़तां लागतां मरतां मारतां महा अस्टमी भारथ जुध मातउ थउ, त्यां दूसरी अस्टमी आइ संप्राप्ती हुयी। जत्र-तत्र ग्रिद्ध मसाण करक की वाडि। अरधो-अरधी दुवइ दल आवरया। पृष्ठ २४

४—सु तीसरो महाभारत आगम कहता उजेणि खेत,
अगनि सोर गाजसी।
पवन वाजसी॥
गजबंध छत्रबंध गजराज गुड़सी।
हिन्दु असुराइण लड़सी॥

आदि से संबंधित हैं वहाँ जैन-वचनिकाएँ जैनाचार्यों के यश, प्रभाव, स्वागत-समारोह आदि से आबद्ध हैं। वचनिका शैली ने आगे चलकर ब्रजभाषा को भी प्रभावित किया फलस्वरूप ललितकिशोरी और ललित मोहिनी की 'श्री स्वामीजी महाराज की वचनिका' अस्तित्व में आई[1]।

कलात्मक गद्य का दूसरा रूप 'दवावैत' है। यह रूप फारसी रचना शैली से राजस्थानी में आया। पंजाब में वैतों का प्रचार काफी रहा 'वैत' शब्द अरबी भाषा का है। फिरदौसी ने 'शाहनामा' इसी 'वैत' छन्द में लिखा है। यह 'वैत' छन्द पिंगल के गीता छन्द (कुल २६ मात्राएँ, १४, १२ पर यति) से मिलता-जुलता है[2]। 'दवावैत' इससे भिन्न प्रकार की रचना लगती है। 'रघुनाथरूपक' के आधार पर इसका लक्षण स्पष्ट करते हुए नाहटाजी ने लिखा है—दवावैत के दो भेद होते हैं (१) पद्यबद्ध (या पद बद्ध) इसमें २४-२४ मात्राओं के तुक युक्त गद्य खण्ड होते हैं (२) गद्यबद्ध—उसमें तुकयुक्त गद्यखण्ड होते हैं, मात्राओं का कोई नियम नहीं होता। वचनिका के चतुर्थ भेद और दवावैत के द्वितीय भेद में कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता।

दवावैत संज्ञक रचनाएँ जैन और चारण दोनों शैलियों में लिखी गईं। नाहटाजी ने जैन शैली में लिखित तीन दवावैतों। (जिन सुख सूरि, महारावल लखपत और जिनलाभ सूरि) का उल्लेख किया है[3]। चारण शैली में लिखित २२ दवावैतों की सूचना सौभाग्यसिंह शेखावत के लेख से मिलती है[4]। इन रचनाओं का वर्ण्य-विषय विविध है। जैन दवावैतों में सामान्यतः चरित्र-नायक की गुण-गाथा गाई गई है। पर चारण-शैली में लिखित ये दवावैतें चरित्र-नायक की गुणावली के अतिरिक्त नगर, युद्ध, राज्य, वैभव, आरवेट नखशिख आदि विभिन्न विषयों के वर्णन से संबंधित हैं। जैन शैली की इन रचनाओं में गद्य तुकान्त और प्रवाह युक्त है[5]। चारण शैली में कहीं-कहीं पद्य में पाये

१—मध्यकालीन हिन्दी गद्यः हरिमोहन श्रीवास्तव : पृ० ५२

२—राजस्थानी साहित्य में प्राप्त दवावैत रचनाएँ : श्री सौभाग्यसिंह शेखावत, शोधपत्रिका वर्ष १३ अंक ४ पृ०, ३४

३—प्राचीन काव्यों की रूप परम्पराः श्री अगरचन्द नाहटा, पृ० ११५–१२०

४—शोधपत्रिका, वर्ष १३ अंक ४ पृ०,३४–५०

५—अहो आओ बे यार, बैठो दरबार।
स चाँदनी रात, मजलस की बात ॥—जिनसुखसूरि दवावैत : रामविजयकृत

जाने वाले प्रसिद्ध शब्दालंकार वयणसगाई की छटा भी यहां गद्य में दिखाई देती है[१] । सौन्दर्य-वर्णन में जिन उपमाओं का प्रयोग किया गया है वे भाषा को लालित्य ही नहीं प्रदान करतीं वरन् स्थानीय रंग को भी मुखर करती हैं[२] ।

कलात्मक गद्य का तीसरा रूप हैं 'सिलोका' । इसे सलोका भी कहा जाता है । इसका मूल शब्द 'श्लोक' है । इसकी रचना का प्रारंभिक कारण वर की शिक्षा एवं बुद्धिपरीक्षा लेना रहा होगा । साले के द्वारा कुछ श्लोक कहे जाकर वर को भी उत्तर में कुछ श्लोक बोलने की प्रथा रही होगी । 'रघुनाथरूपक' में इसे गद्य का ही एक प्रकार माना है । अन्त में तुक मिलने और शब्दों की सीमितता के कारण यह शैली[3] काव्य जैसी लगती है । इसके निर्माण में जैन-जेनेत्तर सभी विद्वानों तथा साधारण लोगों ने भी योग दिया है। इनका वर्ण्य-विषय मुख्यतः देवी-देवताओं और वीर-पुरुषों का गुण-गान ही रहा है ।

कलात्मक गद्य का चौथा रूप 'वर्णक' ग्रन्थों की रचना है । इन ग्रंथों में विभिन्न वस्तुओं के वर्णन का संग्रह होता है । यह वर्णन सार्वजनिक रीति से किसी वस्तु विशेष—देश, नगर, वन, समुद्र, नदी, राजा, युद्ध, स्त्री, पुरुष, प्रकृति, कला, देव, भोजन आदि के लिए आदर्श रूप में स्वीकृत होता है । 'सभा शृंगार' ऐसे ही वर्णक ग्रंथों का महत्त्वपूर्ण संकलन है ।

इसमें राजस्थानी गद्य की तुकात्मकता, आलंकारिकता,[४] चित्रात्मकता और

१—पूर्व की तरफ राजावटी देश । रोभूं का रैवास । भांडूं का भेश । धूरतों का धाम । मंगतूं का मोहल्ला । कंगालूं का कोट । हीजडूं का सहर, जारूं का जोट, चुंगलूं का चबूतरा, सगलूं का रैवास, कुकरमूं का कोठार, अधरमूं का ऐवास ।—ठाकुर रघुनाथसिंह जी की दवावैतः दुर्गादत्त बारहठ कृत ।

२—आभा की बीज । सावण की तीज ।। नैंह की सागर । अम्रत की गागर ।। पूंगल को लहजौं । हेत को हैजौं ।। रेशम को लछो । कुरज को बच्चो ।।

३—बोले सीतापत इसड़ीजी वाणी, सुरनर नागां ने लागै सुहाणी ।।
सेसाजल हणमन्त जिमही सरसाई, वीरां अवरां री कीधी बड़ाई ।।
—रघुनाथ रूपक

४—किसी एक विरहिणी हुई ?
विरहावस्था, आहारि ऊपरि करइ अनास्था ।
सर्व शृंगार, मानइ अंगार ।
चन्द्र तपइ पान, थ्यां विखवान ।
विरहानल,प्रज्वलइ अंगु, सखी जन स्यूं विरंग—सभा शृंगार, पृ० १६०

प्रवहमानता[1] के एक ही साथ दर्शन होते हैं। नाहटाजी ने 'सभाशृंगार में' केवल जैन शैली में लिखित वर्णक ग्रंथों का ही संकलन किया है। चारण-शैली में लिखित वर्णक ग्रंथ भी काफी संख्या में मिलते हैं। राजान राउत रो वात वणाव, खीची गंगेव नींबावत रो दोपहरो, वाग्विलास या मुत्कलानुप्रास इस संदर्भ में दृष्टव्य हैं।

कलात्मक गद्य का अन्तिम रूप 'वात' साहित्य है। यह साहित्य विपुल परिमाण में मिलता है। सामान्य रूप से इसे कहानी का पर्याय कहा जा सकता है। पर इसकी टेकनीक वर्त्तमान कहानी से नितान्त भिन्न है। ये वातें मूल रूप से 'कहने के लिए' रची गई हैं। इनके रचनाकार का व्यक्तित्व लोक-रुचि में घुल-मिल गया है। इसीलिए इन्हें लोक साहित्य की परिधि में रखा जा सकता है। इनको 'कहने' और 'सुनने' की एक विशेष प्रणाली है। कथा कहने वाला बात कहता चलता है और सुनने वाला 'हुंकारा' देता रहता है। इसमे वक्ता और श्रोता के बीच एक प्रत्यक्ष सजीव सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो रस निष्पत्ति में बड़ा सहायक होता है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से ये वातें विविध प्रकार की हैं। इनमें प्रेम की रंगीनी है तो युद्ध की आग भी, पौराणिक युग की अलौकिकता है तो इतिहास की वस्तुस्थिति भी, पारिवारिक दुर्बलताओं पर तीव्र प्रहार है तो सामाजिक विसंगतियों पर करारा व्यंग्य भी। मुख्य कथा के साथ कभी २ कई प्रासंगिक कथाएं जुड़ी रहती हैं, यही नहीं प्रासंगिक कथाओं में भी फूल की पँखुड़ियों की भाँति अन्य कथाएँ छिपी रहती हैं जो धीरे २ खुलती जाती हैं। इन वातों की पात्र सृष्टि जड़-चेतन, कीट-पतंगो, मानव-देव-दानव आदि सभी क्षेत्रों तक व्याप्त है। अलौकिक तत्व यहां सहज ही कथा के

१—दुष्ट स्त्री का यह चित्र देखिए—

काली, कंकाली। काणी, कोचरी।
कुरूप, कुत्सित।
काकजंघा, काकसरी।
कुहाडि, कुलक्षिणी,
सापिणी, पापिणी
सुंखिणी, नरगिणी
लांबड़ी, बोबड़ी।
सडी, पडी।—सभाशृंगार: सं० अगरचन्द नाहटा, पृ० १०६

साथ आबद्ध हो गये हैं। कथा का आरंभ सामान्यतः वातावरण से होता है। यह वातावरण भौगोलिक भी हो सकता है और सांस्कृतिक भी। वर्णनों की अधिकता, भाषागत प्रवाह, संवादों की नाटकीयता, उपमा, उत्प्रेक्षा और दृष्टान्तों की चारुता तथा बीच २ में पद्यबद्धता इस बात साहित्य की सामान्य विशेषताएँ हैं।

(४) अन्य रूप :

धार्मिक, ऐतिहासिक और कलात्मक गद्य के विभिन्न रूपों के अतिरिक्त भी राजस्थानी गद्य का प्रयोग वैद्यक, ज्योतिष, वैज्ञानिक, योगशास्त्र, व्याकरण आदि ग्रंथों के लेखन में किया गया। इस प्रकार का साहित्य अभी बहुत कम प्रकाश में आया है। लगता है इस ओर स्वतन्त्र लेखन के प्रयोग विशेष हुए भी नहीं। हाँ, औक्तिक ग्रंथ (व्याकरण सम्बन्धी) अवश्य ज्यादा लिखे गए। सं० १३३६ में लिखित 'बालशिक्षा' इसी प्रकार का व्याकरण ग्रंथ है। संस्कृत व्याकरण को सरल-सुगम राजस्थानी गद्य में समझाया गया है कुलमंडन कृत 'मुग्धावबोध औक्तिक', सोमप्रभ सूरि कृत 'औक्तिक' तथा तिलक कृत 'उक्ति संग्रह' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

शिलालेख और पत्र सम्बन्धी गद्य की देन भी विशेष मूल्यवान है। ये शिलालेख ऐतिहासिक स्मारक, धार्मिक अनुष्ठान, विशेष राजाज्ञा आदि विभिन्न विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। पत्रात्मक साहित्य का महत्व तत्कालीन लोक रुचि और भाषा के विकास दोनों दृष्टियों से है। ये पत्र नरेशों और जैनाचार्यों, जैनाचार्यों तथा श्रावकों एवं जन साधारण के सामान्य व्यवहारों से संबंधित हैं। आरंभ में पत्रों का प्रचलन समाचार-प्रेषण की दृष्टि से ही हुआ पर कालान्तर में वह साहित्यिक विधा का एक अंग ही बन गया। विभिन्न सामाजिक स्तर और रिश्तों के अनुरूप पत्रों की विविध शैलियाँ भी बन गईं। सास ने अपने दामाद को पत्र लिखा तो उपमाओं की झड़ी ही लगादी[1] और पति ने

१—सीध श्री वाली दीस भुजी दास साची दीस सुभ सुथानेर सरब ओपमा वीराजमान बड़ा बड़ी ओपमा भारी भारी ओपमा नीकी नीकी ओपमा गुणां रा सागर भाषर जमा भारी सजंदों जिसा अथाग गउ ब्राह्मण रा प्रतपालक षट दरसण रा पाषणहार पंषियांरी पाँख। जीवरा आधार। जीवरी जड़ी। कालजै री कौर। चढ़तै तेज। वधती वेल। हीरा पन्ना री खाण। मोतियां रा आगर। केसर री क्यारी;...अनेक ओपमा लायक राव श्री १०८ श्री कंवर जी सा श्री...सदा चिरंजीवो, कोड़ वरस कायम रहो...आदि आदि।

अपनी स्त्री को पत्र लिखा तो उसके रूप की लड़ी ही पिरो दी[1]।

१६ वीं शती में संस्मरणात्मक गद्य के भी दर्शन होते हैं। 'भिक्खु-दृष्टान्त' में तेरापंथ सम्प्रदाय के आद्य प्रवर्त्तक स्वामी भीखणजी के ३१२ जीवन प्रसंगों को संकलित किया गया है। ये प्रसंग उनके अन्तेवासी शिष्य मुनि हेमराजजी द्वारा लिखित हैं। इन प्रसंगों में संस्मरणकार की ईमानदारी, सचाई और सहज स्वाभाविकता है। 'इन हूबहू चित्रित जीवन-पटों से स्वामीजी के जीवन, उनकी वृत्तियों, उनकी साधना और उनके विचारों पर गंभीर प्रकाश पड़ता है।" इनके द्वारा राजस्थानी गद्य का एक नया रूप सामने आया है जो भाषा की दृष्टि से ही नहीं तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक चेतना के अध्ययन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। 'पोथी और पानां' के पारस्परिक सम्बन्ध का कितना दार्शनिक गूढ़ पर सरल विवेचन यहाँ देखने को मिलता है[2]।

(ख) अमौलिक गद्य:

अमौलिक रूप से लिखा गया जो राजस्थानी गद्य मिलता है उसके दो प्रकार हैं। (१) टीका और (२) अनुवाद। इसमें टीकात्मक गद्य ही विपुल परिमाण में मिलता है।

१—स्वस्त श्री सुभ सुथाने""स्वस्त श्री गोम सुभ सुथाने सकल कला प्रवीण चौसट कला निधान। मन भावन सुख उपजावन। आभारी वीज। सावण री तीज। भादवा री घटा। किरत्यां रो झूमका""जोग गांव सुं लिषतु सुख स्नेह प्याला री मनवार ढोलिया वैसणों बंचावसी""थाँरे डीलां रा जतन करजो म्हेतो थांने घड़ी भूलां नहीं रात दिवस मन में वसावा छां आदि।
—शोध पत्रिका : वर्ष १३ अंक ३, पृ० ७५

२—केइ कहै पोथी आग णै मेलणी नहीं। पूठ देणी नहीं। पोथी पानां तो ज्ञान है। तिणरी आशातना करणी नहीं। जद स्वामीजी बोल्या : पोथी पानां ने थें ज्ञान कहो छो तो पोथी पानां फाट गया तो कांइ ज्ञान फाट गयो। अथवा पोथी पानां सिड़ गया तो कांई ज्ञान सिड़ गया। पानां उड़ गया तो कांई ज्ञान उड़ गयो। पानां बल गया तो कांई ज्ञान बल गयो। पानां चोर ले गया तो कांइ ज्ञान ने चोर ले गया। पानां तो अजीव है। अनें ज्ञान जीव है। अक्षरां को आकार तो ओलखणें रे वासते छै। पानां में लिख्या त्यारो जाणपणों ते ज्ञान है। ते आतमा छै। आपरे कनें छै। अनें पानां अनेरा छै।—भिक्खु दृष्टान्तः संग्रहकर्त्ता श्रीमद जयाचार्य, पृ०८५

(१) टीकात्मक गद्य :

टीकात्मक गद्य के निर्माण में जैन विद्वानों का योग सबसे अधिक रहा। जैनाचार्य और जैन संत अपने धर्म को जन साधारण तक पहुँचाना चाहते थे। उनके मूल धार्मिक ग्रंथ प्राकृत भाषा में ही लिखे हुए मिलते हैं। सामान्य वर्ग तक उसमें निहित सिद्धान्तों को पहुँचाने के लिए यह आवश्यक था कि प्रचलित जन-भाषा में उनकी व्याख्या की जाय, उनके शब्दार्थ समझाये जांय। फल स्वरूप यह टीकात्मक गद्य दो रूपों में सामने आया। बालावबोध और टब्बा। बालावबोध एक विशेष प्रकार की टीका-शैली है जिसमें मूल ग्रंथ की व्याख्या ही नहीं की जाती वरन् मूल सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न कथाएँ भी कही जाती हैं। ये कथाएँ परम्परागत, काल्पनिक या लोक-कथाओं में से चुनी जाती हैं। इनका अन्त धार्मिक सिद्धान्त के अनुसार कर दिया जाता है। यह कथा-भाग ही इस शैली की मुख्य विशेषता है। इस टीका को पढ़ कर बालक जैसा अपढ़ या मंद बुद्धि वाला व्यक्ति भी मूल सिद्धान्त को समझ सके इसीलिए इसे 'बालावबोध' कहा गया है। इस प्रकार की टीकाएँ सामान्यतः जैनागमों, स्तोत्र, चरित्र एवं दार्शनिक ग्रंथों पर लिखी गई है। टीकात्मक गद्य का सर्वप्रथम उदाहरण सं० १३५८ में लिखित 'नवकार व्याख्यान' का मिलता है। इसकी शैली रूढ़िबद्ध टीका जैसी है। सच्चे अर्थों में बालावबोध शैली का आरंभ आचार्य तरुणप्रभ सूरि से होता है। उन्होंने षडावश्यक बालवबोध में संस्कृत, प्राकृत के अंशों को लोकभाषा में समझाया है[1]। इसे समीक्षा की व्याख्यात्मक शैली के रूप में भी देखा जा सकता है। सोम सुन्दर सूरि ने उपदेशमाला बालावबोध (प्राकृत से) और योगशास्त्र बालावबोध (संस्कृत से) की रचना की। मेरू सुन्दर ने सबसे अधिक लगभग १७ बालावबोध लिखे। इनके बाद लगभग ११ बालावबोध लिखने वाले हैं पार्श्वचन्द्र सूरि।

ये बालावबोध जैन-ग्रंथों पर ही नहीं लि गये अजैन ग्रंथों पर भी जैन विद्वानों ने कलम चलाई है। राठौड़ कवि पृथ्वीराजकृत 'वेलि क्रिसन रुक्मणी'री पर शिव निधान, जयकीर्ति, कुशलधीर, लक्ष्मीवल्लभ आदि जैन विद्वानों की मारवाड़ी भाषाओं की टीकाएँ मिलती हैं।

१—इसी परि महाविषाद करतउ जिनदत्तु लोकि जाणिउ। किं बहुनां, राजेन्द्र पुणि जाणिउ। धन्यु जिनदत्तु जु इसी परि भावना भावइ। तदा तिणि नगरी केवली आविउ! राजादि के लोके बान्दी पूछिउ—भगवन् जिनदत्तु पुण्यवन्तु, किंवा अभिनवु पुण्यवन्तु, केवली कहीइ जिनदत्तु पुण्यवन्तु। लोक कहइ—भगवन् अभिनवु पाराविउ जिनदत्तु न पराविउ।

टीकात्मक गद्य का दूसरा रूप है टब्बा। टब्बा बालावबोध से बहुत संक्षिप्त होता है! इसमें व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग नहीं किया जाता न प्रासंगिक कथाएँ ही दी जाती हैं। इसमें केवल मूल शब्द का अर्थ ऊपर, नीचे या पार्श्व में दिया जाता है। संवेगदेव (चौशरण टब्बा), सोम-विमल सूरि (कल्पसूत्र टब्बा) शिवविधान (योगशास्त्र टब्बा, कल्पसूत्र टब्बा) आदि उल्लेखनीय टब्बाकार हुए हैं। गीता, पुराण आदि पर भी जैनेतर विद्वानों ने कई टीकाएँ लिखीं।

अमौलिक गद्य साहित्य का दूसरा प्रकार है अनुवाद। यह अनुवाद संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, फारसी आदि भाषाओं के ग्रंथों का राजस्थानी गद्य में किया गया। जैन विद्वानों ने संस्कृत प्राकृत में लिखे गये प्रश्नोत्तर ग्रंथों के अनुवाद राजस्थानी में प्रस्तुत किये। क्षमाविजय का 'विशेष शतक' संस्कृत से राजस्थानी में अनुवादित इसी प्रकार का ग्रंथ है। पौराणिक गद्य साहित्य की दृष्टि से पुराण, धर्मशास्त्र, माहात्म्य ग्रंथ आदि के अनुवाद मिलते हैं। गरुड़पुराण के ८ अनुवाद मिलते हैं, जिनमें तीन अनुवाद तो लक्ष्मीधर व्यास (सं० १८७७), श्री कृष्ण व्यास (सं० १८८६) और श्री हीरालाल रताणी (सं १९१३) के हैं! चौथे अनुवाद का लेखन समय सं० १९१४ है। शेष ४ अनुवादों के न तो लेखकों का पता चलता है न लेखन-समय का। धर्मशास्त्र विषयक दो अनुवाद मिलते हैं 'कर्म विपाक' और 'प्रतिष्ठानुक्रमणिका'। माहात्म्य ग्रंथों में एकादशी माहात्म्य का अनुवाद मिलता है। वैज्ञानिक ग्रंथों में श्रीधर नामक ज्योतिषाचार्य ने संस्कृत ग्रंथ 'गणितसार' का राजस्थानी में अनुवाद किया। वैद्यक और योगशास्त्र सम्बन्धी ग्रंथों के भी कई अनुवाद मिलते हैं। इन अनुवादों में धार्मिक दृष्टि की ही प्रधानता रही है।

अब तक हमने राजस्थानी गद्य के जिन विभिन्न रूपों और शैलियों की चर्चा की है उनका सम्बन्ध अब (आधुनिक युग में) छूटता जा रहा है। राजस्थान जब अंग्रेजों के शासनाधीन हुआ तब न्यायालय की भाषा उर्दू और शिक्षा की भाषा हिन्दी बना दी गई। फलस्वरूप राजस्थानी भाषा के लिए कोई व्यापक क्षेत्र नहीं रहा। स्वतंत्रता के बाद जब प्रादेशिक भाषाओं को संवैधानिक मान्यता दी गई तो राजस्थानी उस अधिकार से भी वंचित कर दी गई और उसका सम्बन्ध हिन्दी के साथ ही जोड़ दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्रता के बाद अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य की तरह राजस्थानी साहित्य का तीव्रगामी विकास और मौलिक सृजन नहीं हुआ।

यों तो जब से ब्रजभाषा को अपदस्थ कर खड़ी बोली साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुई तब से हिन्दी साहित्य में गद्य और पद्य की कई विविध नई शैलियाँ विकसित हुईं। राजस्थानी साहित्य भी उनसे अप्रभावित नहीं रहा। अर्वाचीन राजस्थानी गद्य में प्राचीन गद्य की उपर्युक्त वर्णित शैलियाँ आज अस्तित्व में नहीं है, पर हिन्दी गद्य में प्रचलित नाटक, एकांकी, कहानी, उपन्यास, रेखा-चित्र, संस्मरण, निबन्ध आदि के विभिन्न रूप नये वातावरण और नूतन लक्ष्य-बिन्दु को लेकर अवतरित हुए हैं। उनका स्वर अब सामन्त युगीन प्रशस्तिमूलक और रूढ़िगत न होकर जनतांत्रिक सामाजिक चेतना से अनुप्राणित और यथार्थमूलक है। इन शैलियों में कृतिकार के व्यक्तित्व का लोप नहीं, उसकी विशिष्टताओं का किंचित उभार भी दृष्टिगत होता है। भाषा में रूढ़िबद्धता, सामासिकता और सामूहिकता के स्थान पर सारल्य, लालित्य, नई अर्थवत्ता, लाक्षणिक शक्तिमता और वैयक्तिक स्पर्श के संदर्शन होते हैं। पर कुल मिलकर नई शैलियों में लिखित राजस्थानी गद्य साहित्य के नीम की निबौरी अभी हरी है, वह धीरे धीरे पक रही है, उसे नवीन अनुभूति, गहरी संवेदना और आत्म-निष्ठा की धूप अपेक्षित है, तभी उसका रंग पीला पड़ेगा और मिठास की परख होगी।

———

राजस्थानी वात साहित्य : एक पर्यालोचन

राजस्थानी कलात्मक गद्य में वात साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। यह वात साहित्य ऐतिहासिक गद्य की बातों से किंचित भिन्न है। इसमें कथा तत्व की प्रधानता है जबकि उसमें इतिहास तत्व की प्रमुखता। यह वात साहित्य सामान्यत: प्राचीन कथा साहित्य का पर्यायवाची है। राजस्थानी में कहानी को वात, बारर्ता आदि नामों से पुकारा जाता है। यों 'वात' शब्द संस्कृत 'वार्ता' से ही व्युत्पन्न प्रतीत होता है। इन वातों में राजस्थान का धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जन-जीवन अपने यथार्थ रूप में उद्घाटित हुआ है।

सामान्य परिचय :

सृष्टि के साथ साथ कहानी की सृष्टि हुई। आदि मानव ने अपनी स्पष्ट-अस्पष्ट, मधुर-कटु अनुभूतियों को स्फुट-अस्फुट स्वरों में व्यक्त किया। आरंभ में यह अनुभूति सीधी और सरल थी। उसमें कला का पुट न था पर कहने और सुनने के कारण एक चित्रमयता अवश्य थी। सभ्यता के विकास के साथ-साथ इस कथन-प्रणाली में कई परिवर्तन आये। चित्रममता कम हुई। छापेखाने के आविष्कार ने उसे पठन-पाठन की वस्तु बना दिया। संक्षेप में छापेखाने के आविष्कार से इस कहानी-साहित्य पर निम्नलिखित प्रभाव पड़े—

(१) कहानी में जिस कथनीय गुण की प्रधानता थी, वह अब न रही। अब कहानी कथनीय से पठनीय बन गई।

(२) कहानी में श्रोता को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित और आत्म विभोर करने की जो क्षमता की वह अब न रही। लिपिबद्ध होकर मुद्रित हो जाने से वह परोक्ष पाठक की वस्तु बन गई।

(३) कहानी में भाषा की जो सहजता और सरलता थी, देश-काल के अनुसार रूप परिवर्तित करने की जो क्षमता और सुविधा थी, मुद्रित होकर रूपगत स्थायित्व प्राप्त करने के कारण वह गतिशीलता अब न रही।

(४) परम्परा से प्राप्त जो कहानियाँ, वृद्ध और अनुभवी कथावाचकों द्वारा लम्बी-लम्बी रातों तक सुनाई जाती थीं, वे अब लुप्त होने से बच गईं।

छापेखाने के द्वारा उनकी रूपगत एवं शैलीगत विशिष्टता सुरक्षित रह सकी।

(५) स्थूल रूप से छापेखाने ने कहानी की मौखिक परम्परा की कमर तोड़ कर उसे जन-जीवन से दूर ला पटका पर सूक्ष्म रूप से कहानी और सर्व-सुलभ तथा अमिट बनकर सामान्य जन के हितों को सम्पादित करने में अधिक सक्षम बन सकी।

इतना होते हुए भी आज वात साहित्य का मौखिक रूप अधिक वैविध्य सम्पन्न, विस्तृत और विश्रृंखल है। आवश्यकता इस बात की है कि इस अनन्त विस्तार और अतल गहराई वाले वात-वारिधि को लिपिबद्ध कर, मुद्रित कर, अमर्यादित (नष्ट) होने से बचाया जाय।

आज राजस्थान में ये प्राचीन कहानियाँ तीन रूपों में प्रचलित हैं। (१) राजघरानों में पहले वाली कथाएँ (२) धार्मिक दृष्टान्त रूप कथाएँ और (३) जनसाधारण में प्रचलित लोक कथाएँ। राजघरानों में पलने वाली कथाएँ रक्तरंजित युद्धस्थल, विलासपूर्ण रंगमहल, राज रानियों के हास-परिहास, राजपुरुषों के षडयन्त्र, और कोलाहलपूर्ण सामन्ती वातावरण से सम्बन्धित हैं। धार्मिक दृष्टान्त रूप कथाएँ आचार शुद्धि, सदाचार-पालन, कषाय-त्याग, ब्रह्मचर्य-पालन, व्रत-माहात्म्य, सत्य की विजय, धार्मिक दृढ़ता, सेवा-भाव, कर्त्तव्य परायणता, नाम-स्मरण, इष्ट-पूजा आदि से सम्बन्ध रखती हैं। जन साधारण में प्रचलित लोक कथाएँ लोक देवताओं के अलौकिक कार्यों और जीवन घटनाओं तथा नीतिपरक उपदेशों को अपने में समेटे हुए हैं।

कथानक सम्बन्धी विशेषताएँ :

प्राचीन राजस्थानी कहानियों में कथानक की प्रधानता है। संक्षेप में इस कथानक की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) विषय की विविधता :

यों तो मोटे तौर पर सम्बन्ध की दृष्टि से इन कहानियों को दो भागों में [illegible] जा सकता है—(१) घर बीती और (२) पर बीती। घर बीती कहानियाँ सामाजिक होती हैं। इनमें कल्पना तत्व की प्रधानता रहती है। शृंगारिक अनुभूति, वीरत्व-व्यंजना, व्रत-महिमा, सामाजिक रीति-विधि, पारिवारिक स्थिति का चित्रण आदि इनके विषय होते हैं। परबीती कहानियाँ ऐतिहासिक या पौराणिक होती हैं। इनमें किसी प्रमुख ऐतिहासिक या पौराणिक

पात्र के कार्यों व जीवन-घटनाओं का विवरण रहता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि राजस्थान की ये कहानियाँ विषय की दृष्टि से विविधता और जीवन की दृष्टि से अनेकरूपता लिये हुए होती हैं। इनमें एक ओर स्वदेश-प्रेम, जाति-प्रेम, गोरक्षा, आत्माभिमान, सतीत्व-रक्षा और धर्म-पालन के लिए प्राणोत्सर्ग कर देने वाले कथानक मिलते हैं तो दूसरी ओर प्रेम और विवाह के, विरह और मिलन के, सौतिया-डाह और हास-परिहास के रंगीन चित्र भी दिखाई देते हैं। यदि एक ओर अपने पुरुषार्थ के बल पर लड़ने वाले वीर सेनानी सिंहनाद करते हुए पाये जाते हैं तो दूसरी ओर भाग्यवाद पर आस्था रखने वाले विलासी नायक रंगरेलियाँ करते हुए भी दृष्टिगत होते हैं। कहीं स्त्री अपने चातुर्य के बल पर पुरुष को वशवर्ती बनाये हुए हैं तो कहीं पुरुष अपने पराक्रम के बल पर स्त्री को बन्धन मुक्त किये हुए हैं, कहीं चोर डाकुओं का साहस रोंगटे खड़े कर देता है तो कहीं ऋषि मुनियों का जादू रहस्य-लोक में पहुँचा देता है। जीवन और जगत का शायद ही कोई ऐसा अंग हो, जो इन कहानियों द्वारा अस्पर्श्य रहा हो।

(२) गठन का औपन्यासिक विस्तार :

इन कहानियों का कथा-संगठन विस्तार में उपन्यास से होड़ लेता प्रतीत होता है। कहानी कहने वाला 'अर्जुन' केवल मात्र चिड़ियाँ की 'आँख' या सिर नहीं देखता वरन् वह चिड़ियाँ के साथ साथ उसके आस पास के सम्पूर्ण वातावरण — भौतिक और मानसिक दोनों—को भी चित्रित करता चलता है।

यों तो इन कहानियों का कथानक सरल होता है, वक्र नहीं। पर सरलता के साथ-साथ उसमें विस्तार अधिक होता है। वह प्रमुख कथा के साथ अपने में कई प्रासंगिक कथाएँ समेटे हुए चलता है। कथा के फूल से उपकथाओं की पंखुड़ियां निकलती चलती हैं। ये उपकथाएँ अपने में इतनी सम्पूर्ण होती हैं कि अलग कथा सी जान पड़ती हैं फिर भी प्रमुख कथा और उसके उद्देश्य के साथ इनका अन्तरंग मेल होता है। 'राणी चौबोली री बात' इसका उदाहरण है। इसमें राजा भोज और चौबोली की प्रमुख कथा के साथ उसे सम्पूर्णता प्रदान करने एवं लक्ष्य की पूर्ति के लिए चार प्रासंगिक काथएँ चलती हैं जिनका सम्बन्ध श्रोता और निर्णायक के रूप में नायक भोज के चारों मित्रों—आगिया, बेताल, कबडिया जुबारी, माणिकदे मदवांण, खापरा चोर — से जोड़ा गया है। इन चारों मित्रों के निर्णय सामान्य लोक नीति और लोक धर्म से इतने विपरीत और विरुद्ध होते हैं कि चौबोली को बोल कर उनका प्रतिकार करना पड़ता है।

इन कहानियों का कथानक स्थूल होता है, सूक्ष्म नहीं। इसी स्थूल कथानक

के कारण कहानियों में घटना बाहुल्य तो है पर मानसिक संघर्ष नहीं। इन कहानियों में आधुनिक कहानी की भाँति जीवन का कोई एक विशिष्ट पक्ष उद्घाटित नहीं किया जाता वरन् आधुनिक उपन्यास की भाँति जीवन को संपूर्ण संदर्भों में देखने का प्रयत्न किया जाता है।

जीवन को सम्पूर्ण संदर्भों में देखने का ही यह परिणाम है कि इन कहानियों में देश-काल की भूमि अत्यन्त व्यापक है। इन कहानियों को पढ़कर मध्यकालीन राजस्थानी समाज का व्यापक चित्रपट तैयार किया जा सकता है। तत्कालीन शासन पद्धति, राजपुरुषों की मनोवृत्ति, अन्तर्कलह, सामन्ती षड़यन्त्र, प्रेम के पचड़े, उत्तराधिकार नियम, सोतिया डाह, जागीर प्रथा, बहु विवाह के परिणाम, भोजन विधि, खान-पान, रहन-सहन, देवी-देवता, लोक विश्वास, शिक्षण पद्धति, व्यवसाय, नगर की विशालता, दुर्ग की अभेद्यता, युद्ध की भयंकरता, वीरों का रण-चातुर्य, शस्त्रों की बौछार, नायिका की रूप-सज्जा, प्राकृतिक दृश्यों की छटा, आमोद-प्रमोद के साधन आदि सबका विवरण स्थान-स्थान पर कथाकार देता चलता है। इन वर्णनों द्वारा वह प्रत्यक्ष श्रोता को प्रभावित करने में सफल भी होता है।

कहना न होगा कि घटना बाहुल्य, अन्तर्कथात्मक शैली और देशकाल की व्यापक पृष्ठभूमि के कारण ही इन कहानियों का कथा-संगठन औपन्यासिक वस्तुसंगठन से मेल खाता हुआ प्रतीत होता है।

(३) विकास का महाकाव्योचित उठान :

यद्यपि ये सभी कहानियाँ विस्तार में अधिक लम्बी नहीं होती तथापि कथा-विकास की अवस्थाओं को देखते हुए इनमें वे सभी मोड़ मिल जाते हैं जो किसी नाटक या महाकाव्य के लिए अपेक्षित होते हैं। सुविधा की दृष्टि से विकास की इन दशाओं को तीन भागों में बांटा जा सकता है। (१) आरंभ (२) मध्य और (३) अन्त।

इन कहानियों का आरंभ साधारण ढंग से होता है। उसमें नाटकीय चमत्कार के लिए कोई स्थान नहीं। यह अवश्य है कि आरंभ की इतिवृत्तात्मकता कहानी में शिथिलता ला देती है पर उसे शुष्क नहीं बनाती। वार्ताकार कथा का आरंभ यकायक नहीं कर देता। इसके लिए वह भूमिका बांधता है। यह भूमिका कभी तो सामान्य और छोटी होती है पर कभी विशिष्ट और विस्तृत। इस भूमिका में साधारणतः तीन बातों में से कोई एक

बात होती है। कभी तो बाह्य स्थिति का विस्तार में परिचय दिया जाता है, कभी मानसिक वातावरण को चित्रित किया जाता है और कभी बात की महता के संबंध में ही कतिपय प्रशंसात्मक छन्द दुहरा दिये जाते हैं।

बाह्य स्थिति के चित्रण में उस देश की भौगोलिक और सांस्कृतिक विशेषताओं का उल्लेख किया जाता है जिसका संबंध कहानी से होता है। 'डाढालौ सूर' में कहानी का आरम्भ 'अबू के माहात्म्य' के साथ होता है।

"जम्बू दीप भरतखंड में अढार गिर, पण अढार गिरांरों सिरौं अरबद किसौहेक छै—

बनस्पती पाखर वणी, वणिया टोक विहद्द।
पटा चिछूता नीभ्करण, आयौ मद अरबद्द॥
घेघू बील्‍लू बींघटा सिखर पखिया सद्द।
लग सूं सूवा वालिया, आजूणो अरबद्द॥
चंपा मांणै नर चढ़ै, अंबा भखं अवल्ल।
अरबाद सूं अलगा रहै, ज्यांरा कूण हवल्ल॥
आबू गढ़ रा खेतड़ा, केतकियां री बाड़॥
अन देसी अंजस करै, सीस पागड़ी चाढ़॥
जांणै जिके सुजांण नर, ना जांणै सौ बोक।
जमीं र असमानां बिचै, अरबद तीजो लोक॥

जिण अरबद ऊपर अढारह भार बनस्पती झुक रही छै। घणी ही चंपो, चमेली, मोगरो, जुही फूल रहिया छै। फेर अड़सठ तीरथ आय विसरांम लियो छै। श्रो अचलेसरजी रै दरसण करण रै पगां फेर अठ्यासी रिसी, नवनाथ, चौरासी सिद्ध, निन्याणवे किरोड़ राजा, सिद्ध, तैतो किरोड़ देवता मेलें भरे। इसौ अरबद छै। मृत्युलोक मांही सरग छै।"

इस उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कथा कहने वाला वातावरण को मुखरित करना चाहता है। इसके लिए वह गद्य और पद्य दोनों का सहारा लेता है। दोनों के भावों में पुनरावृत्ति होती है, पर वह क्षम्य है, रोचकता में उससे किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

'राणी चौबोली री बात' में कथा का प्रारम्भ उज्जैन नगरी परिचय से होता है।

"उजेणी नगरी राजा भोज राज्य करै। नव वारी नगरी। चौरासी चौहटा, छतीस पोली। च्यार वरण रहै। छतीस पवन जाति लोक बसै। कोडी-धज व्यापारी रहै। षट दरसणी रहै। तिण नगरी रै बिषै राजा भोज राज्य करै।"

कभी-कभी कहानी का आरम्भ वातावरण से न होकर सीधा पात्र-परिचय मे होता है। 'खीवै बीजैरी बात' का आरम्भ इसी प्रकार का है—"खीवौ। बिजौ धाडवी बड़ा दोड़ा बड़ा चोर। बिजो सोभित वसै। खींवो नाडौल वसै। वैहूं रा ओसाप बड़ा।"

कथा कहने वाला कभी कथा-स्थल पर जल्दी पहुँच जाता है तब वह कथा का मूल अंश प्रारंभ न कर कथा के महत्व के सम्बन्ध में कतिपय छंद कहने लगता है ताकि अन्य लोग भी कथा सुनने के लिए इस बीच अपने काम से निवृत्त होकर आ सकें। बात की प्रशंसा में कहे जाने वाले कुछ पद्य ये हैं—

"बात भली दिन पाधरा, पैंडे पाकी बोर।।
घर भींडल घोड़ा जणै, लाडू मारै चोर।।"

+ + +

"कोई नर सूता, कोई नर जागै।
सूतौड़ां री पागड़ियां, जागता ले भागै।।"

+ + +

"सार बाबा सार, माता सा घोड़ला।
दूबला सा टार।"

+ + +

"बातां हंदा मामला, दरियां हन्दा फेर।
नदियां बहै उतावली, फिर फिर घालै घेर।।"

+ + +

"बात में हुँकारौ, फौज में नगारो।
जीवै बात रो कहणवाल, जीवै हुंकारा रो देणवाल।।"

इसके बाद फिर मूल कहानी आरम्भ होती है—

"उज्जीण नगरी रै मांही देवसरमा नामे बिरामण निवास करै,' आदि-आदि' (सांईरी पलक में खलक)

'प्रारम्भ' में कथा के प्रमुख पात्र, उसका उद्देश्य आदि स्पष्ट हो जाता है। "राणी चौबोली री बात" के प्रारम्भ में ही यह संकेत मिल जाता है कि राजा भोज चौबोली से विवाह करने के लिए प्रयत्नशील है। "बीमाह करौ तो चौबोली परणी जिस्यौ। ज्युं हुंई जाणु सोक आई।" और इसी प्रयत्नावस्था से कहानी आगे बढ़ती है। राजा भोज अकेला ही घोड़े पर सवार होकर चौबोली की खोज में निकलता है। यहीं से संघर्ष प्रारम्भ होता है। वह एक पहाड़ी प्रदेश में पहुंच जाता है जहां एक राक्षस राक्षसी के घुटने पर मस्तक रखे सोया हुआ है। वहां राक्षसी उसे स्वर्ण मक्खी बना कर अपनी जटा में रख लेती है। "राकसणी सोवन माखी राजा नुं करि नै जटा माहे राखीयौ।" यह प्रथम संघर्ष बिन्दु है। किसी तरह अपने मित्रों को स्मरण कर राजा उनकी सहायता से राक्षसी को मूर्च्छित कर, इस संघर्ष बिन्दु से पार होता है। इसके बाद संघर्ष का दूसरा बिन्दु आरम्भ होता है। चौबोली यदि रात में किसी के द्वारा न बुलवाई जा सके तो उसे प्रभात होने पर वहां नौकर की तरह पानी भरना पड़ता है। मालिन से सारा भेद और विवरण लेकर राजा भोज अपने मित्रों (जिन्होंने अदृश्य मक्खी रूप धारण कर लिया है) सहित चौबोली के महल पहुँचते हैं और सामान्य लोक धर्म विरुद्ध बातें (कहानियां) कह कर चौबोली को बोलने के लिए विवश कर देते हैं। चौबोली के बोलते ही संघर्ष समाप्त हो जाता है और दोनो के विवाह के साथ कहानी का अन्त हो जाता है।

'चौबोली' कहानी की इस विकास-दशा मे यह स्पष्ट है कि यहाँ कहानी के 'मध्य' में संघर्ष तो होता है पर यह संघर्ष सूक्ष्म और आन्तरिक नहीं होता, स्थूल और बाह्य होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यहाँ मानव का भौतिक जगत—मार्ग में आने वाली प्राकृतिक बाधाएँ—से या मानव का मानव से—राक्षस, प्रतिपक्षी आदि—संघर्ष होता है। मानव का अपने आप से, अपनी ही वृत्तियों से संघर्ष छिड़ता हुआ यहाँ नजर नहीं आता। एक ही हृदय में दो भावों का, दो वृत्तियों का, आन्तरिक या मानसिक संघर्ष नहीं उमडता। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यहाँ बहिर्द्वन्द्व तो है पर अन्तर्द्वन्द्व नहीं। राजा भोज–चाहे मित्रों की सहायता से ही सही–राक्षस–राक्षसी से लड़ता है, चौबोली को बोलने के लिए विवश भी करता है पर उसके अन्तर्भावों का कोई पता यहाँ नहीं लगता। यही बात राक्षसी और चौबोली जैसी (कुंठित मनोवृत्तियों वाली) नायिकाओं के बारे में कही जा सकती है।

इन बाह्य संघर्ष–बिन्दुओं को पार करती हुई ये राजस्थानी कहानियाँ 'अन्त' की ओर बढ़ती हैं। इनका अन्त सुखमय होता है। दुखात्मक अन्त को लेकर कही गई कहानियाँ यहाँ नहीं मिलतीं। भारतीय आदर्शवाद और

मंगलमयी भावनाओं के आलोक से ये कहानियाँ विमंडित हैं। नायक संघर्षों में डूबता–इतराता लक्ष्य को पा ही लेता है। 'राणी चौबोली री बात' में राजा भोज चौबोली से विवाह कर ही लेता है। 'बात सूरां अर सतवादी री' में कुंवर मार दिया जाता है, फूलमती धोखे से, नाइन द्वारा काबुल के राजा के यहाँ पहुँचादी जाती है फिर भी वह अपने शील की रक्षा करती हुई अन्त में कुंवर के मित्रों की सहायता से काबुल के राजा के यहाँ से मुक्त ही नहीं होती वरन् कुंवर को जीवित बना, आनन्द रस का भोग भी भोगती है। 'पंचमार री बात' का नायक अशक्त, मूर्ख और निरा भाग्यवादी है फिर भी सयोग–बिन्दुओं के मिलन से 'सात मार,' 'सिंहमार' 'फौजमार' आदि का वैशिष्ट्य अर्जित कर, अपार धन सम्पत्ति–राज्य तक-प्राप्त कर लेता है। 'ढोला मारू री बात' में नायिका मारवण, पीवणा सांप द्वारा उसकी साँस पी जाने के कारण मर जाती है और ढोला भी उसके साथ जल मरने को उद्यत होता है तभी शिव–पार्वती उपस्थित होकर मारवण को जीवित कर कहानी को दुखान्त होने से बचा लेते हैं। ठीक यही स्थिति 'जलाल–बूबना री बात' में है। जलाल की मृत्यु के झूठे समाचार सुनकर बूबना मर जाती है, उधर बूबना को मरा हुआ जान जलाल सांस छोड़ देता है। पर शीघ्र ही शिव–पार्वती आकर दोनों–प्रेमी-प्रेमिका–को जीवित बना देते हैं और कथा सुखान्त बन जाती है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन कहानियों को अलौकिक तत्त्वों का बल देकर भी सुखान्त बनाने का प्रयास किया गया है।

(४) अतिमानवीय तत्त्वों की प्रधानता :

राजस्थानी कहानियों में अतिमानवीय तत्त्व पद पद पर देखने को मिलते हैं। ये अतिमानवीय तत्त्व मुख्य रूप से दो कार्य सम्पादित करते हैं। (१) कथा की गति को आगे बढ़ाने में सहायक होते हैं और (२) कहानी की वस्तु को–संघर्ष–बिन्दुओं से निकाल कर, असंभाव्य घटनाओं को संभव बनाते हुए-सुख पूर्ण अन्त की ओर अभिमुख करते हैं। इन अति मानवीय तत्त्वों के कई रूप हैं। रूप-परिवर्त्तन, गुण परिवर्त्तन, आकाशवाणी अप्सरा तत्त्व इनमें प्रमुख हैं। रूप-परिवर्त्तन सबमे व्यापक तत्त्व है। इसमें जड़ का चेतन, पक्षी का मनुष्य, मनुष्य का पक्षी होना तो सामान्यतः देखा ही जाता है पर वेश और लिंग परिवर्त्तन भी इसका साधारण अंग है। 'चौबोली' की प्रासंगिक कथा में ब्राह्मण पत्थर की पुतली में, अपने विद्या के बल से, प्राणों की प्रतिष्ठा करता है। राजा भोज स्वर्णमाखी बन कर राक्षसी की जटा में रहता है और अपने चारों मित्रों को मक्खी वनाकर चौबोली के महल में प्रवेश करता है। राजकुमारी किसी सिद्ध से कह कर एक ऐसी रखैनी बनवाती है जिसके बांधने से मूर्ख

(रतनपारखी) पक्षी (सुआ) बन जाता है और ज्यों ही पंचकली द्वारा वह रखैनी छुड़ाई जाती है मूर्ख मनुष्य बन जाता है।

जड़ पदार्थों में भी इतना अद्भुत वैशिष्ट्य पाया जाता है कि हम दांतों तले अंगुली दबाने लगते हैं। 'राजा मानधाता री बात' में मानधाता ज्योंही मामा अजयपाल द्वारा संकेतित लकड़ी के हाथ लगाता है त्यों ही वह लकड़ी उसे लेकर उड़ चलती है और पहुँचा देती है सात समुद्रों पार। खड़ाऊ को स्पर्श करने पर खड़ाऊ भी उसे ले उड़ती है और सुमेरू पर्वत पर ला उतारती है। गुण-परिवर्तन के भी कई उदाहरण मिलते हैं। मूर्ख व्यक्ति शारदा से प्राप्त खाक फांक कर त्रिकालदर्शी बन जाता है। मृत व्यक्ति को जीवित बना देना तो साधारण बात है। 'चौबोली' की प्रासंगिक कथा में तांत्रिक के चेले के पास जो लकड़ी है, उसका स्पर्श पाते ही मुर्दा जी उठता है। 'सूरां अर सतवादी री बात' में फूलमती के मृत पति को उसका ब्राह्मण-मित्र जीवित बना देता है। शिव और पार्वती के प्रसंग से तो न जाने कितने प्रमुख चरित्र इन कहानियों में जीवन-दान लेते रहते हैं।

इन अतिमानवीय तत्वों में सिद्ध महात्माओं और अप्सराओं का भी बडा हाथ रहता है। ये सिद्ध महात्मा पहुँचे हुए साधु होते हैं। इनके अभिमन्त्रित जल का सेवन करने से निस्सन्तान के भी सन्तान हो जाती है। 'मानधाता री बात' में तो राजा युवनाश्वर के भी गर्भ रह जाता है। 'राजा सिद्धराव जैसिंघ री बात' में यति हेमाचार्य अपने मन्त्र बल से कुमारपाल को नगर के बाहर निकाल देता है, योगिनियों को आदेश देकर बादशाह को सपलंग उठा मंगवाता है। शेख फरीद का व्यक्तित्व भी अतिमानवीय है। उसका सोटा इतना भारी है कि उसे ५० आदमी मिलकर भी नहीं उठा सकें। वह काले क्षेत्रपाल, गोरे क्षेत्रपाल और गणेशजी की मूर्तियों को सचल बनाकर उनसे पानी तक मंगवाता है।

अप्सराओं का लोक भी बड़ा विचित्र है। इनका धरती से सम्बन्ध जोड़ा गया है। 'मानधाता री वात' में मानधाता अप्सराओं से घिरा हुआ है। उनके मना करने पर भी वह कमरे खोलता है फलस्वरूप मोरपंख, गरूड़, घोड़े और गधे पर बैठकर वह विभिन्नि लोकों की यात्रा कर आता है पर अन्ततः गधा उसे मामा के पास ला छोड़ता है और वह भी मामा की भांति ही निःश्वास छोड़ने लगता है। 'लालमणि कंवर री बात' का सारा वातावरण ही अप्सरा तत्व से घिरा हुआ है। 'डाढ़ालौ सूर' जैसी वीर भावों की प्रतीक कहानी में भी अन्ततः अलकापुरी से विमान आ उतरता है।

ये अति मानवीय तत्व कथा को यथार्थ की भूमि से ऊपर उठाकर किसी

आदर्श लोक में ला पटकते हैं। इनमें अभिशाप आदि की अवतारणा भी की गई है पर वे यथार्थ को बल न देकर किसी न किसी आदर्श की ही संपुष्टि करते हैं।

(५) कथानक रूढ़ियों की संयोजना :

अति मानवीय तत्वों की प्रधानता और कथा का सुखान्त भाव विभिन्न कथानक रूढ़ियों को अपनाने के लिए विवश हुआ है। इन रूढ़ियों के आधार पर ही पूरी की पूरी कथा अपना आकार ग्रहण करती है। ये रूढ़ियां परम्परागत हैं जिनका प्रयोग मध्यकालीन काव्यों में प्रचुरता के साथ मिलता है। यहां इन कहानियों में प्रयुक्त प्रमुख कथानक रूढ़ियों के नमूने दिए जाते हैं :—

(१) निस्सन्तान होने के कारण राजा का चिन्तित रहना और पुत्र प्राप्ति के लिए ऋषीश्वरों की सेवा करना।

(२) ऋषीश्वरों का प्रसन्न होकर अभिमंत्रित जल देना, जिसके सेवन करने से गर्भ रहना और यथासमय पुत्ररत्न की प्राप्ति होना (मानधाता री बात)

(३) छोटी रानी का अपने वश में कर बड़े लड़के के विरुद्ध राजा के कान भरना और उसे देश-निकाला देना।

(४) कुंवर का अपने मित्रों के साथ जंगल की ओर रवाना होना।

(५) आगे चलकर मित्रों को बीच ही में छोड़ अकेले घोड़े पर चढ़कर पहाड़ की ओर बढ़ना।

(६) पहाड़ की गुफा में निर्जन शहर का होना, उसमें राक्षस के बीच किसी राजकुमारी का मिलना।

(७) राजकुमारी का कुँवर (राजकुमार) की ओर आकर्षित होना, राक्षस का वध कर राजकुमारी को भय-मुक्त करना व विवाह करना (सूरां अर सत-वादी री बात)

(८) राजकुमारी के जूतों की जोड़ी रत्नजटित होना, उसमें से एक जूती का नदी में गिरना, मगरमच्छ द्वारा उसका निगला जाना, मगरमच्छ के शिकार करने पर उसके पेट में से जूती का निकालना, उस पर किसी दूसरे राजा का मुग्ध होकर राजकुमारी को प्राप्त करने का डिंडोरा पिटवाना।

(९) कार्य सिद्ध करने वालों को बहुत अधिक पुरस्कार देना, सामान्यतः आधा राज्य देकर अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ करना।

(१०) नायन या किसी दूती द्वारा भी इस कार्य को सिद्ध करने का प्रयत्न

करना। इस प्रयत्न में राजकुमारी को धोखे से फंसाना, उसके साथ मौसी का सम्बन्ध जोड़ना और राजकुमार को विष-मिश्रित भोजन देकर मार डालना।

(११) राजकुमारी का अपना सतीत्व निभाना। पर पुरुष के यहां जाकर भी सामान्यतः एक वर्ष की अवधि तक अपने प्रिय की प्रतीक्षा में अलग महल बनाकर एकान्त वास करना।

(१२) इस अवधि में सदाव्रत बांटना, पक्षियों को चुग्गा खिलाना और इसी माध्यम से प्रियतम या उसके किसी अन्तरंग मित्र से भेंट होना।

(१३) इस भेंट के द्वारा सारे रहस्यों का खुलना, राजकुमारी का चुपके से अपने प्रियतम या किसी अन्य सम्बद्ध व्यक्ति के साथ निकल भागना।

(१४) सम्बद्ध व्यक्ति का चमत्कारी होना, मृत व्यक्ति को जीवित करना और आनन्द मनाना।

(१५) राजकुमार-राजकुमारी का पूर्ण वैभव औ आडम्बर के साथ फिर अपने घर जाकर माता-पिता से मिलना और सर्वत्र सुख शान्ति की वर्षा होना (सूरां अर सतवादी री बात)

ऊपर हमने जिन कथानक रूढ़ियों का उल्लेख किया वे सामान्यत: सूरां अर सतवादी री बात के आधार पर। इनके अलावा भी कई कथानक रूढ़ियां प्रचलित हैं।

(६) काव्य-निर्णय (Poetic Justice)

अति मानवीय तत्वों के निर्वाह, कथानक रूढ़ियों के संयोजन और सुखान्त भावना के कारण इन कहानियों में काव्य-निर्णय का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। यहां जितने भी दुष्ट मात्र हैं, उनको उनकी दुष्टता का पूरा पूरा फल मिलता है और जितने भी सद् पात्र हैं वे अपनी सद्भावना का पुरस्कार पाते हैं। 'सूरां अर सतवादी री बात' में नायन को उसकी दुष्टता का फल मिलता है। उसे आकाश में उड़ते हुए खटोले से राजा के दरबार में, जहां उसका पति चंवर डुला रहा था, 'करे सो पावे' कहकर पटक दिया जाता है जिससे उसकी मृत्यु हो जाती है। 'राजा सिद्धराव जैसिंघ री बात' में कुमारपाल राजा होने पर पाटन के चौधरी को मरवा डालता है और बनियों को देश निकाला दे देता है।

(७) प्रभावान्विति :

कहानियों की दो मूल विशेषताएं होती हैं। (१) विषय का एकत्व और (२) प्रभावान्विति। राजस्थानी कहानियों में कथानक औपन्यासिक विस्तार
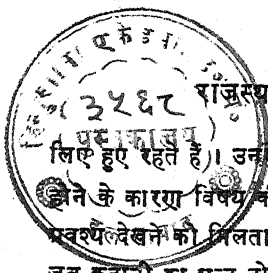
लिए हुए रहते हैं। उनमें 'कथा के अन्दर कथा' और देश काल की व्यापक भूमि होने के कारण विषय की एकता का तो अभाव है पर प्रभाव-समष्टि का निर्वाह अवश्य देखने को मिलता है। 'चौबोली' कहानी में चार कथाएँ चलती हैं पर जब कहानी का अन्त होता है तब कहानी का लक्ष्य—राजा भोज का चौबोली से विवाह-पूरा हो जाता है। रानी को बुलवाने के लिए ही ये चार कथाएँ गड़ी गई हैं। यही बात 'राजा मानधाता' की कहानी के संबंध में कही जा सकती है। राजा अजयपाल निश्वास क्यों छोड़ता है, इस रहस्य का पता लगाने के लिए ही मानधाता अप्सराओं के लोक में पहुँचता है और एक-एक कर चार कमरों को खोलता है, विभिन्न यात्राएँ करता है और अन्ततोगत्वा गधे पर बैठ कर मामा के पास आ पहुँचता है और उसी प्रकार निश्वास छोड़ने लगता है। कहानी पढ़ने या सुनने के बाद पाठक अथवा श्रोता के मन में कोई कौतूहल या जिज्ञासा का भाव नहीं रहता। सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। उपन्यास की भाँति पूर्णता विधायक संतुष्टि उत्पन्न करने में ये कहानियाँ अत्यन्त सफल हुई हैं। औत्सुक्य वृद्धि का तो यह हाल है कि 'मन लगना' इन कहानियों की कोई विशेषता नहीं है 'मन लगा रहना' ही इनकी विशेषता है।

पात्र और चरित्र-चित्रण सम्बन्धी विशेषताएँ :

राजस्थानी कहानियाँ सामान्यतः घटना प्रधान है। यहाँ घटनाओं के आधार पर ही पात्रों का चरित्र चित्रित किया गया है। पात्र और चरित्र-चित्रण सम्बन्धी विशेषताओं को निम्नलिखित रूपों मे देखा जा सकता है:—

(१) एक रस सरल गति वाले चरित्र :

इन कहानियों में जो पात्र आये हैं वे सम चरित्र वाले हैं। उनके जीवन में उत्थान-पतन के अधिक मोड़ नहीं हैं। वे एक निश्चित और सरल दिशा की ओर बढ़ते हुए प्रतीत होते हैं। बढ़ने क्या हैं उनको केवल मात्र विभिन्न घटनाओं और स्थितियों में गुजरते हुए दिखाया गया है। राजा भोज का चरित्र बिल्कुल सरल और स्पष्ट है। उसमें चौबोली से विवाह करने का उत्साह तो है पर परिस्थितियों से संघर्ष करने की हिम्मत नहीं। यहाँ जटिल परिस्थितियों का निर्माण भी नहीं किया गया है। यही कारण है कि राजा भोज का चरित्र जटिल चरित्र नहीं है। उसमें आन्तरिक मनोभावों का द्वन्द्व नहीं है। राजा मानधाता भी ऐसा ही पात्र है। वह अप्सरा-लोक में पहुँचने पर भी निर्द्वन्द्व बना रहता है।

ये पात्र संघर्षशील हैं पर यह संघर्ष भौतिक और वाह्य है मानसिक और

सूक्ष्म नहीं। ये सामान्यतः अपने ही समान धर्मी भाइयों से लड़ते हैं। यह संघर्ष उत्तराधिकार-भावना, राज्य लिप्सा, कर्त्तव्यपालन शरणागत रक्षा, प्रेम-निर्वाह, वचन-पालन आदि भावों की रक्षा के लिए होता है। इन कहानियों के राजकुमार सामान्यतः राक्षसों से लड़ते हुए पाये जाते है। इस लड़ाई में राक्षस पराजित होता है और राजकुमारी का उद्धार होता है। अपने आप से लड़ना उन्हें नहीं आता। यही कारण है कि सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण इन कहानियों में नहीं हो पाया है।

ये पात्र आरंभ से अन्त तक समान स्थिति में ही रहते हैं। चाहे राजा भोज हो, चाहे कुंवर वीरभान, चाहे खीवा बीजा चोर हों चाहे साहूकार, चाहे भाग्य-वादी पंचमार हो चाहे कांणां राजपूत। उनमें चरित्र का विकास नहीं दिखाई देता। ये सारे पात्र स्थितिशील लगते हैं। रूढ़ियों और सिद्धान्तों के जैसे पुतले हों। इन कहानियों को पढ़ कर ऐसा लगता है कि ये सारे पात्र सहज स्वभावी नहीं है। विशुद्ध चरित्र–चित्रण के नाम पर या तो इन्हें किसी आदर्श का पुतला बना दिया गया है या किसी सिद्धान्त विशेष की प्रतिपादना के लिए इनका निर्माण कर लिया गया है। इन पात्रों का चारित्रिक सौन्दर्य मुखरित नहीं हो सका है। घटना और परिस्थिति के साथ पात्र के चरित्र का जो अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होना चाहिए, उसका न होना ही इस विसंगति का कारण है।

(२) वर्गगत विशिष्टता के सूचक पात्र :

इन कहानियों के पात्र सामान्यतया किसी न किसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं। मध्यकालीन राजस्थानी समाज में जो अंधविश्वास, जादू-टोना, मंत्र-तंत्र आदि का प्रभाव बढ़ रहा था, उसका प्रतिबिम्ब इन कहानियों में मिलता है। अधिकांश कहानियां राजपूतों को वीरता. साहसशीलता और शोर्य-भावना से संबंधित हैं। यहां औसत पात्र वीर है। वह युद्ध, दान, दया और धर्म सभी ओर अपना उत्साह और ओज बिखेरे हुए है। युद्ध वीरता का वर्णन ही विशेष रूप से अभिव्यंजित हुआ है। राजदूतों की पतन अवस्था का मार्मिक चित्र भी इन कहानियों में मिलता है। कुंवर वीरभान वीर-भावना का प्रतीक है। वीरता के साथ साथ प्रेम-भावना का भी स्फुरण इन कहानियों में दिखाई देता है। राजा भोज का चौबोली के प्रति आकर्षण, वीरभान के कुंवर का फूलमती के साथ विवाह इसके उदाहरण हैं। 'डाढालौ सूर' में पूरा-परिवार का परिवार वीर भावनाओं का पोषक और वाहक है। ये पात्र एक ओर प्रेम में मस्त, शौर्य में डूबे हुए, स्वामीभक्त और प्रणपालक हैं तो दूसरी ओर अशक्त, निर्धन,

साहसहीन (पंचमार री बात) दुश्चरित्र, रूप लोभी, अधिकारों के प्रति लापर-वाह, भीरू (काणां राजपूत री बात) और चोर (खीवं बीजै री वात) भी हैं ।

इन कहानियों के स्त्री पात्र प्रायः बड़े चतुर, साहसशील, सतीत्व की रक्षा करने वाले और रूपवान होते हैं । 'काणां रजपूत री वात' में सामेचा जाति के राजपूत की स्त्री-पति की अनुपस्थिति में अपने रूप पर मुग्ध हुए नकली गृहस्वामी (एकाक्ष राजपूत), कोतवाल, प्रधान, मेहता और काजी को अपने साहस और चातुर्य के बल पर, एक ही रात में घर आने का समय देकर, उन्हें अपने २ अफसरों से भयभीत होते देख, अलग २ मंजूषों में बन्द कर राजा के सम्मुख प्रस्तुत कर-न केवल अपन शील धर्म की रक्षा करती है वरन् अधिकारियों की दुष्चरित्रता का पर्दाफाश भी करती है । 'राजा रा गुर रा बेटा री बात' में अबला कहलाने वाली एक स्त्री द्वारा पांडित्य का भार लाद कर फिरने वाले एक गुरू के बेटे की खबर ली गई है । 'गांम राधणी री वात' में एक सच्चरित्र राजपूत महिला, अपनी सूझबूझ के कारण मूर्ख ग्वाले को भी चतुर बना उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह तो करती ही है उसे राजा का दीवान तक बना देती है । दुष्ट स्त्रियों की भी कमी नहीं है

इन मानवी पात्रों के अलावा स्त्री-पात्रों की और भी श्रेणियाँ हैं । अप्सरा, पद्मिनी और राक्षसी इन श्रेणियों में आती हैं । 'मानधाता री बात' की अप्सराएँ मानधाता के साथ भोग भोगती हैं, वे इन्द्र को मुजरा करने जाती हैं, वहाँ नृत्य करती हैं, मानधाता को देखकर ताल चूक जाती हैं । 'साहूकार ने सूआ री बात' में पद्मिनी स्त्री की चर्चा है । राजा का कुंवर सुग्गे की सहायता से पद्मिनी स्त्री के साथ विवाह करता है । 'चौबोली' में राक्षसी का वर्णन आता है जो राजा भोज को स्वर्णमाखी बना कर अपनी जटा में रखती है और खापरा चोर आँखों में कज्जल डाल कर जिसे मूर्छित करता है ।

ये पात्र उच्चकुल के भी है और साधारण वर्ग के भी । पर दोनों के व्यव-हार और सम्बन्ध में कोई विभाजक रेखा नहीं है । दूसरे शब्दों में यहाँ का राजा अपने राजत्व से घिरा हुआ नहीं है । वह समाज के सभी वर्गों से संबं-धित है । राजा भोज उज्जैन का राजा है पर उसके मित्र राज वर्ग के नहीं हैं । वे सामान्य स्तर के लोग हैं । उसके प्रमुख चार मित्रों में आगिया बेताल, कबड़िया जुआरी, माणिक दे मदवांण और खापरा चोर हैं । राजा इन मित्रों का बड़ा सम्मान करता है । वह इनसे पन्द्रहवी विद्या सीखना चाहता है । ये मित्र

भी राजा की यथासंभव सहायता करते हैं। उनके बल पर ही भोज-चौबोली से विवाह कर पाता है। 'सूरां अर सतवादी री वात' का नायक राजा वीरभान का पुत्र राजकुमार है। वह भी राजसी ठाट बाट से घिरा हुआ नहीं है। उसके जो मित्र हैं उनमें एक ब्राह्मण है, एक लुहार है और एक बढ़ई है। राजकुमार का इनसे घनिष्ट प्रेम है। वे उसके शरीर हैं, बुराई-भलाई के साथी हैं। जब कुंवर को वनवास दिया जाता है तब ये मित्र भी उसके साथ चलते हैं। जब कुँवर भोजन करता है तब सबसे पहले तीनों मित्रों के नाम की तीन पत्तलें पशु-पक्षियों के सामने डालता है और जब तीनों मित्र भोजन करते हैं तो कुंवर के नाम की पत्तल अलग निकालते हैं। इतना ही नहीं जब कुंवर मर जाता है तब उसका ब्राह्मण-मित्र ही अपनी विद्या के बल से उसे पुनर्जीवित करता है। जन साधारण के साथ उच्च पात्रों का यह सम्पर्क सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है।

ये पात्र सामान्य विशेषताओं के धनी हैं। व्यक्ति वैचित्र्यपूर्ण चरित्रांकन की यहाँ कमी है। लोक कल्याण की भावना का स्पष्ट चित्र यहाँ देखने को नहीं मिलता। ये पात्र अपना स्वार्थ अवश्य साधते हैं पर दूसरों को बन्धन मुक्त भी करते हैं। राक्षसों के आगे प्रायः इनकी अपराजेयता प्रकट की गई है। यहाँ जितने भी प्रतिद्वन्द्वी पात्र हैं वे या तो मारे जाते है या नायक के आगे आत्म समर्पण कर अपने जीवन-क्रम को परिवर्तित कर लेते हैं, उसे सुधार लेते हैं।

(३) बेनाम-बे-धाम के पात्र :

राजस्थानी कहानियों के पात्र सामान्यतः बिना नाम के और बिना गांव के हैं। जहाँ नाम आये भी हैं वे पौराणिक युग की याद दिलाते हैं। किसी भी पात्र के साथ राजा भोज, उदयन, वीरभान या खापरा चोर जोड़ देना साधारण बात है। जो पात्र ऐतिहासिक हैं उनके नाम सही हैं पर उनके साथ जो घटनाएँ संबद्ध की गई हैं वे काल्पनिक हैं। चौबोली कहानी में राजा का नाम भी है और गाँव का नाम (उज्जैन) भी। रानी का नाम भानमती और चौबोली परम्परागत प्रतीत होते हैं। 'खीवै बीजै री बात' में भी पात्रों के नाम हैं। सोझित और नाडोल स्थान भी ऐतिहासिक हैं पर कहानी में जो चोरी का काम घटित दिखाया गया है वह कितना यथार्थ है, कहा नहीं जा सकता। चित्तौड़ के शाह देवीदास की घोड़ियों के 'जय' 'विजय' नाम भी परम्परागत हैं। यों तो पुरुष पात्रों में मानधाता, वीरभान, भोज, लालखान आदि नाम मिल जाते हैं पर अधिकांश पात्रों के नामकरण नहीं किये गये हैं यों ही कह दिया

जाता है "एक राजा कही देश रौ । तैरो नाम वीरभाण । सु औ कुंवर खरच करतौ दे खै क्यूं, नहीं । रुपीयौ कांकरौ बराबर कर खरचै । तद इयै रै तीन्ह जणां मेल्हू एक ब्राह्मण, एक लोहार एक सुथार (सूरां अर सतवादी री वात) कहीं कहीं नगरी का नाम तो उज्जैन दे दिया है पर पात्रों का नाम नहीं दिया है—"नगर उजीण मांहे । एक साहूकार बसे । जणीं रै च्यार बेटा (साहूकार री बात) कहीं वृत्तान्त में फलांणा या अमुक कह कर ही काम चला दिया जाता है—फलांणो साह देवलोक हुओ है । जणीं रै च्यार बेटा है सो बड़ी रा है ।.... महाराज फलाणां सैहर मांहै फलांणौ बेद रहै है । (साहूकार री बात) । साधारणतः पात्रों के नाम जातिगत या वर्णगत हैं—जैसे साहूकार रो बेटो, साह रो बेटो, ब्राह्मण रो बेटो, गांम रो धणी, राजा रो बेटी, कोडीधज सेठ, गुमासता रा बेटा, कुंअरजी, एक राजपूत जो जनम रो काणों आदि ।

स्त्री-पात्रों के नाम भी परम्परागत हैं जैसे लीलावती अप्सरा, पँचकली, फूलमती, भानमती, चौबोली आदि । सामान्यतः रजपूतणी, राक्षसी, दासी, बामणी, राजकँवरी, छोकरी, बेटां री माउ, सुहागण, दुहागण, सौत, गुवालणी, गुवाल री मा, सासू आदि नामों से स्त्री पात्रों का उल्लेख किया गया है ।

नायक-नायिका के विशिष्ट नामकरण के अभाव में कहानी की प्रभावान्विति में कमी आती है, यथार्थ वातावरण की सृष्टि में बाधा पड़ती है और कथा में स्पष्टता व निश्चितता नहीं आ पाती । राजस्थानी कहानियों में बे नाम और बेधाम के अधिकांश पात्र अपना वर्गगत चरित्र तो विशिष्ट वेशभूषा और कार्य-व्यापार द्वारा प्रकट कर देते हैं । फिर भी नामकरण की निर्दिष्ट प्रणाली से जिस सांस्कृतिक वातावरण की सृष्टि होती है उसका यहां अभाव है ।

सामान्यतः चारित्रिक विशिष्टता के अनुरूप ही नामकरण किया जाता है । प्रेमचन्द अपने पात्रों के नामकरण में खूब सफल हुए हैं । मोटे कर्म में निरत पात्र का नाम सरल और व्यावहारिक होता है जबकि अलौकिक चमत्कार से युक्त पात्र का नाम सूक्ष्म और प्रतीकात्मक होता है । इन राजस्थानी कहानियों के पात्रों का बेनाम और बेधाम होना उनकी लौकिक साहित्य की निकटता का बोधक है ।

(४) अति मानवीय तत्वों से गुंफित चरित्र :

राजस्थानी कहानियों में जो चरित्र हैं वे सामान्य भी हैं और विशिष्ट भी । जो विशिष्ट चरित्र हैं वे अलौकिक व्यक्तित्व से सम्पन्न हैं । अपनी विशिष्ट ज्ञान

गरिमा के कारण वे पशु–पक्षियों की बोली भी समझ लेते हैं और उनका रूप बनाकर अपना कार्य भी साध लेते हैं । 'चौबोली' का नायक राजा भोज भोजन करते समय चावल के प्रसंग को लेकर घटित होने वाली दो चींटियों की बात सुनकर हँस पड़ता है और गंगा के समीपस्थ जंगल में कुए के पास चरने वाले बकरे-बकरी का वार्त्तालाप भी वह सुन लेता है जिसमें बकरा राजाभोज की बुद्धि को चुनौती देता हुआ कहता है "म्हारी अकल राजा भोज मिली नहीं छै । आइर रै कहीयें मरण नु ं जाइ छै । सिर साबत तौ ब्याह घणां ।" इतना ही नहीं वह स्वयं भी स्वर्णमाखी बनकर राक्षस से अपनी रक्षा करता है और अपने मित्रों को मक्खी रूप में ही चौबोली के दरबार में ले जाकर उसका गर्व हरता है ।

ये पात्र तीनों लोक में एक साथ बिहार कर सकते हैं । राजा मानधाता का सम्बन्ध धरती से भी हैं और आकाश से भी । वह गरुड़पंख पर बैठकर इन्द्र के अखाड़े का वैभव देख आता हैं तो मोरपंख की सवारी कर पाताल के सातों लोक घूम आता है; सप्तमुखी घोड़े की सवारी उसे सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा करवा देती है तो गदहे की कृपा से वह पुनः अजयपाल से आ मिलता है ।

इन कहानियों में मानव पात्र ही नहीं मानवेतर पात्र भी विशिष्ट व्यक्तित्व के धनी हैं । पक्षियों में सुग्गा और पशुओं में घोड़ा-घोड़ी विशेष काम करते देखे जाते हैं । 'ढोला मारु री बात' में मालवणि सुए के साथ ढोले को सन्देश भेजती है तो 'साहूकार ने सूआ री बात' में सुग्गा ही शाह के बेटे के लिए विदेशी वस्तुओं का भाव लाता है । और कुंवर के लिए पद्मिनी का ब्याह रचाता है । सं ट पड़ने पर वह कुंवर के अश्व चालक का रूप बना कर पानी पंथ घोड़े को प्राप्त करता है । 'खीवै बीजै री बात' मे चित्तौड़ के शाह देवीदास के यहाँ जय विजय नाम की जो दो घोड़ियां है वे भी अद्भुत हैं । एड़ मारते ही हवा हो जाती हैं । 'साहूकार ने सूआ री बात' में जो लाखीणी नाम को घोड़ो है उसके पेट में तो पानी-पंथ घोड़ा है। उसी को सहायता से शुक और कुंवर सभुद्र पार करते हैं ।

अतीत (सिद्ध), योगी, ऋषि मुनि और तपस्वियों के अलौकिक व्यक्तित्व का तो कहना ही क्या ? वे असंभव समझी जाने वाली परिस्थितियों और घटनाओं को भी संभव बना देते हैं । शिव-पार्वती भी इन कहानियों में आये हैं पर मृत प्राणियों को जीवन-दान देने के लिए ही ।

कुल मिला कर कहा जा सकता कि इन कहानियों में चरित्र चित्रण परम्परागत ही है । उसमें व्यक्तिगत संवेदनाओं और मन की सूक्ष्म अनुभूतियों

का चित्रण नहीं हुआ है। वे एक विशेष प्रकार की परिस्थिति में ही संचरण करने वाले प्राणी हैं।

शैलीगत विशेषताएँ :

जैसा कि पहले कहा जा चुका है ये कहानियाँ मूल रूप से कहने के लिए निर्मित की गई हैं। फिर भी लिपिबद्ध कहानियों को देखकर उनकी शैलीगत प्रमुख विशेषताओं का पता लगाया जा सकता है।

(१) अन्तर्कथात्मक शैली :

इन कहानियों में अन्तर्कथात्मक शैली के दर्शन होते हैं। 'चौबोली' की चारों कहानियाँ इस प्रसंग में दृष्टव्य हैं। इस शैली के अन्तर्गत फूल की पँखुड़ियों की भांति एक कथा में से दूसरी कथा निकलती है। 'राणी चौबोली री बात' में प्रमुख कथा राजा भोज और चौबोली से सँबंधित है। चौबोली की मूक भंगिमा को मुखरित करने के लिए राजा भोज चार कथाएँ कहता है—(१) ब्राह्मण, कारीगर, दर्जी और सुथार-इन चार मित्रों की कथा (२) ब्राह्मण की बड़ी लड़की की कथा (३) राजकुमारी और ब्राह्मण के मूर्ख लड़के की कथा (४) राजा भोज को चौबोली का भरतार कहने की कथा। राजा के चारों मित्र एक एक कथा को बड़े ध्यान से सुनते हैं और अपना निर्णय देते हैं।

'खीवै बीजै री बात' में भी अन्तर्कथाएँ हैं। मुख्य कथा खीवै और बीजै से संबंधित हैं अन्य चार कथाएं है—(१) बीजै का खीवै के घर चोरी करने का प्रसंग (२) खीवै की स्त्री की प्रेरणा से चित्तौड़ के शाह देवीदास की घोड़ियाँ चुराने की कथा (३) पाटण के सवा करोड़ रुपये के सतयुगी कलश को चुराने की कथा (४) कुड दाँतली के अण्डे लाने की कथा। यहाँ यह स्मरणीय है कि 'राणी चौबोली री बात' में राजा भोज के द्वारा चारों कहानियाँ कहलाई गई हैं जबकि यहाँ चारों बातों को घटित होते हुए दिखलाया गया है। ये कहानियाँ stories in action हैं।

राजा मानधाता री बात में भी चार कमरों से संबंधित गरूड़पंख, मोर, सप्तमुखी घोड़े और गदहे की अन्तर्कथाएं है। 'सूराँ अर सतवादी री बात' में भी वीरभान के कंवर व उसके तीन मित्रों—ब्राह्मण, लुहार, बढ़ई—की कथाएँ हैं।

ये अन्तर्कथाएँ मुख्य कथा के साथ इस तरह संयोजित कर दी गई हैं कि

अलग सी लगती हुई भी उसके मूल प्रभाव को बाधित नहीं करतीं वरन् प्रभावान्विति में सहायक होती हैं।

(२) गद्य के बीच बीच पद्यबद्धता :

ये कहानियाँ सामान्य रूप से गद्य विधा के अन्तर्गत आती हैं पर कहानी कहने वाला बीच बीच में पद्यों को भी दोहराता चलता है। गद्य-पद्य के मिश्रण से इन कहानियों का रूप चम्पू काव्य सा हो गया है। यह पद्य-प्रयोग भावपूर्ण स्थलों पर होता है। ये स्थल सामान्यतः देशवर्णन, रूपवर्णन, संदेश-कथन, विरह-व्यंजना, वीरभावाभिव्यक्ति से संबंधित होते हैं। यहां जिन छन्दों का प्रयोग किया जाता है वे छन्द लोक प्रचलित काव्यों तथा गीतों से लिये हुए होते हैं या प्रसिद्ध काव्य के उद्धरण भी हो सकते हैं। 'ढोला मारू री वात' में जगह जगह पर, कल्लोल कवि द्वारा रचित 'ढोला मारू रा दूहा' से छन्द उद्धृत किये गये हैं। कभी कभी कथा कहने वाला एक ही भाव को पद्य मे भी कहता है और गद्य में भी। 'जलाल बूबना री बात' में जब बादशाह बूबना की उपस्थिति का कारण पूछता है तब बूबना के स्वर काव्य का आश्रय पाकर फूट पड़ते हैं—

> "मेरी बहनाँ मूमना, तासु पिया परदेस।
> तींनूं चैन तनक नहीं, निंद्रा पड़ै न लेस॥"

पर बात में इसका भाव तुरन्त बाद गद्य में भी दे दिया गया है—"म्हारी बहण मूमना है, उसका खाविन्द जलाल साहिब लड़ाई लड़णे गये हैं। अब सावण की तीज आवै है। उसको तनक भी चैन नहीं सो अरज करणे आई हूँ।"

कहना न होगा कि गद्य की यह भाव पुनरावृत्ति कहानी की रोचकता में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाती।

'सूराँ अर सतवादी री बात' में भी कुंवर राजपुरुषों के आगे अपनी धीरता का परिचय एक दोहे में ही देता है—

> "सूराँ अर सतवादियाँ, धीराँ एक मनाह।
> दई करेसी कामड़ा, अरँड फलेसी ताह॥"

भावपूर्ण स्थलों पर कहे गये ये पद्य सुन्दर नगीने से लगते हैं, इनके प्रभाव से कहानी का सारा वातावरण सरस हो उठता है। इनसे कहानी के गति को एक प्रकार का सुखद विराम मिल जाता है।

(३) वर्णनों की अधिकता :

राजस्थानी कहानियाँ वर्णन प्रधान होती हैं। ये वर्णन इतने प्रमुख बन जाते हैं कि कथा की गति शिथिल हो जाती है। वक्ता जब कहानी कहने लगता है तब बड़े धैर्य के साथ नगर की विशालता, सम्पन्नता, दुर्ग की अभेद्यता, युद्ध की भयंकरता, वीरों का रण-चातुर्य, सेना की रचना, हाथी-घोड़ों के लक्षण, नायिका के सौन्दर्य, शृंगारिक उपकरण, विरह-मिलन के चित्र, प्राकृतिक दृश्यों की छटा, आमोद-प्रमोद के साधन, खान-पान, लोक-विश्वास, राज्य-व्यवस्था आदि सबके विस्तृत वर्णन देता चलता है। ये वर्णन इस ढंग से दिये जाते हैं कि श्रोता को उनमें रस आता है और कथा का वातावरण मुखरित हो उठता है। मध्यकालीन राजस्थान का सामाजिक इतिहास इन वर्णनों में छिपा पड़ा है।

'डाढालौ सूर' बात में सिरोही का वर्णन अपनी पूर्ण प्राकृतिक छटा के साथ निखरा पड़ा है—"सिरोही री सबज वरणी नहीं जाय। साखियात इन्दर लोक समान सोभा छै। दूसरी अमरावती हीज छै। जब गेहूँ चणां री क्यारियाँ माँही नै खुसबू छाय रही है। तिजरो फूल रह्या छै। गूँदगरी, रामगरी, गुल-वाड़ री बाड़ां लाग रही छै। पग-पग नाला-नीझरणा बह रह्या छै। घणा ही आँबा-महुवां रा मोर झुक रह्या छै। अढार भार बनस्पती झुक री छै। भँवरा ऊपर गुँजार कर रहिया छै। सारसां बोल रही छै। मयूर झिंगोर करै छै। अनेक भांतरा पसुपक्षी कलोल करै छै। सो इसी दीसै जाँणजे कैलासपुरी कनां, अमरावती कनां, बरुणपुरी, असी सिरोही बिराज रही छै।"

युद्ध के वर्णन भी इन कहानियों में सजीव हो उठे हैं। 'डाढ़ालो सूर' में भूंडण और उसके बच्चों के साथ सिरोही के सिपाहियों का वर्णन देखिये—"भूंडण और तीन चील्हर मिल असवारां सूं कजियो कियौ। सौ मारिया, घायल किया, घणा घोड़ां रा पेट फाड़िया, घणा घायल किया। असवार घणा ही बरछी-भाला बाह्या पण भूंडण धकै चढ़ियौ जिको तौ जम रै घर गयौ और चील्हरां है धकै पड़ियौ सो घायल हुवौ।"

राजाओं के वैभव-विलास का वर्णन भी बारीकी से हुआ है। 'जलाल-बूबना' कहानी में जलाल का राजसी ठाट देखिये—"बागां माँही सैलां करै। गुलाबजल री तूंगां सूं मांपड़ै। छिड़काव गुलाब रो हुवै। केसर-कस्तूरी, भीमसैनी कपूर रो मरदन हुवै—तिणरो कीच मंचियौ रहै। सो इण भांत जलाल गहरी मौज

आणंद सूं रहै । फूलां री तिवारा दारू पी'र लाल रहै । दिनरात सारो साथ मतवालो छकियौ रहै । सो इण भाँति जलाल राजस करै ।"

नायिका के सौन्दर्य वर्णन में उपमाओं की झड़ी लग गई है । 'ढोला मारू री बात' मे मारवणी के सौन्दर्य का चित्र देखिये—

पद्यचित्र :

'जिन जिम घण अमलां कियां, तार चढ़ंतो जाय ।
तिम तिम मारवणी तणौ, तन तरणायौ थाय ।।
हँस गवण कदली सुजंघ, कटि केहरि जिम खीण ।
मुख ससहर खंजन नयण, कुच श्रीफल-कंठ वीण ।।'

गद्य-चित्र :

'मारवणि परमणि, नै चंद्रमा सो वदन, अगलोचणी, हंस की सी गति, कटि सिंघ सरीखी छै । काया सोलमो सोनौ, मुख री सौरम किस्तूरी जिसी छै । गात री सौरम चंदण सरीखो छै । नासिका जांणै सुवा री चांच तथा दीपक री सिखा सरीखी छै । पयोधर श्रीफल जिसा । वांणी कोयल जिसी । दाँत जाणै दाड़िम कुली । वेणी जाणै नागणी । बांह जाणै चंपा री डाल । ऐडी सुपारी सी नै पगथली स्यान री जीभ सरीखी छै ।'

विरह और मिलन के चित्र भी बोलते से लगते हैं । यहां बूबना की विरह-दशा का एक चित्र दिया जाता है —

"इसी भांत बूबना नित बिलखै, ऐक टंक खाणी खावै, नेत्रां खवास अहोत धीरज बंधावै, बिलमावै पण मांनै नहीं अर धरती पर पड़ी रहै । पांन अरोगै नहीं, सुगंध लगावै नहीं, नबोड़ो, गहणो, कपड़ो-कपड़ी पहरै नहीं । खैरायत-खाणो डोढ़ौ ठौड़-ठौड़ फकीरां नूं कर राखियौ छै, जे जलाल री खातिर दुआ करावै ।"

कहना न होगा कि ये वर्णन सजीव, चित्रात्मक और सरस हैं पर इनसे कथा की गति में शिथिलता आती है जिसकी चिन्ता यहाँ के कथाकार को नहीं है ।

(४) भाषागत प्रवाह और सजीवता :

राजस्थानी कहानियों की भाषा राजस्थानी है पर उसकी गोद में अन्य

भाषाओं के शब्द-शिशु भी कल्लोल-क्रीड़ा करते देखे जाते हैं। राजस्थान प्रदेश में तुर्क और मुगलों के आक्रमण होते रहे फलस्वरूप यहाँ की बातों में अरबी फारसी के शब्द पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। यह अवश्य है कि उनको मूल रूप में स्वीकार न कर अपने अनुरूप ढाला गया है। उदाहरण के लिए 'हुकम', 'मुजरो', 'निजर', 'मसौरा', 'सिलाम', 'माफक', 'दरियाब' 'पातिसाह,' 'चोबदार', 'काजी', 'खवास' आदि शब्द देखे जा सकते हैं।

भाषा को सजीव और रोचक बनाने के लिए कहावतों और मुहावरों का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। इनसे भाषा की प्रांजलता और परिपक्वता का बोध होता है। 'सिर साबत तो ब्याह घणां', 'सांकडे पडियो' (आपत्ति में पड़ा) वैंरारा हठ भूंडा (स्त्रियों का हठ बुरा होता है), हुई साठी नै बुध नाठी (सठियाना), बाटी खातां बूजी आवे (चैन से जीवन-यापन करने वाले को उन्माद होता है), पगाँरी झाल माथै गई (पैर से सिर तक क्रोध व्याप्त हो जाना), लोह करौ (वार करो) कागदां में ही लपेटियौ आऊँ (मेरी मृत्यु का समाचार ही कागज में लिखा हुआ आए) आदि इस संदर्भ में द्रष्टव्य हैं।

भाषा की रवानगी, पात्रानुरूपता, लयात्मकता और चित्रात्मकता भी देखने योग्य है। मुसलमान पात्र उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग विशेष करते दिखाई देते हैं। भाषा की चित्रात्मकता का एक उदाहरण पर्याप्त होगा। 'खींवै बीजैरी बात' में बीजा नाडोल आकर चोरी करने के लिए निकलता है, उस समय का यह दृश्य-चित्रण कितना स्वाभाविक और सजीव बन पड़ा है—"आधा भादवारी आधी रात गई छै ताहरां काली कांबल री गाती मारि टोपी माथे मेल्हि जाँघीयो पहिरी छुरो काडि कड़ि बाँधि अर सहर माँहे चोरी नु चालियो।"

भाषा में यथावसर अलंकारों का खूब प्रयोग देखने को मिलता है। ये अलंकार रूढ़ भी हैं और मौलिक भी। मौलिक प्रयोग के दर्शन वहाँ होते हैं जहाँ उन पर स्थानिक रंग (Local colour) चढ़ गया है। यहाँ डाढ़ालो (सुअर) और राव बीसलदे के बीच हुए युद्ध-वर्णन में जो अलंकार प्रयुक्त हुए हैं वे देश-काल की पृष्ठ भूमि में कितने 'फिट' बैठे हैं—"राव नूं चाढ़ियौ! लोग साथ रा साराही भेला हुआ। लोग सगला घुमरो कियां ऊभा रावरी डील सम्भाले छै और डाढ़ालौ निलोह थकियो परलै पासै जाय ऊभो खेरूँ करै छै। छटा धूणे छै सँख सूं खम लगाय फौज साम्हो जोवै छै। जे राव रै कन्है घणो लोग चढियौ पाले रो घुमरो दीठौ। सो त्यूं उठायनै फौज में पाछा नाखिया ज्यूं बगूलिये आयां सुगड़ा पांन घास रा तिणका उडजावै त्यूं

सारो लोग बिखर गयौ । मुँह सूं आयौ कहितां ही चालिया, भागिया परा जाय छै, ज्यूं लुहार घण मारते मुँह सूं जिको जबाब निसरै सो ही जबाब घणी ताल लग चलियो जावै । त्यूं राव री फौज ऐसी बिजलवाई गई सो बाजे-बाजे लोग ग्राध कोस ताई गयो उठा तांई मुँह सूं उही जबाब ग्राये-ग्राये रो रहियो ।"

भाषा को गति ग्रौर शक्ति देने के लिए संवादों का प्रयोग भी इन कहानियों में किया गया है । पर ये संवाद ग्राधुनिक कहानी के ढंग के नहीं हैं । न तो यहाँ वैसा परिष्कार ही है न ग्रनुच्छेदात्मक विभाजन ही । ये संवाद पद्यात्मक भी हैं ग्रौर गद्यात्मक भी । दोनों के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

पद्यात्मक संवाद :

नगारो सुण भूंडण कही—ग्राज रा निसांण कैसा'क बाजै छै । तद डाढ़ाळो कही—

भूंडण मन ग्राणन्द कर, बाजण दे नीसाँण ।
जो मौजां गावां जियां, तो बगियां परवाणँ ॥

जद भूंडण कही—

ग्रहरण ठमको म्हे सुण्यौ, लोहो घड़े लुहार ।
घड़जै घसजै बग्पड़ा, तौ काजै हथियार ॥

तद डाढालो कही—

ग्रहरण भांजूं गज गिलूं, समूचौ [वो लुहार ।
घोड़ो पाड़ूं पाखरयो, सूं बरछी ग्रसवार ॥

फेर भूंडण कही—

ऐक विराणा जव चरै, दूजे भय ज नांहि ।
कदे ऐक देखावस्यूं, लड़ बाहर फल मांही ॥

जद डाढालो कहै—

भूंडण लेजा चील्हरा, हूं जावूं रण थाट ।
कै रोवाणूं पदमणो, (का) मांस बिकाऊं हाट ॥

(डाढ़ाळो सूर री बात)

गद्यात्मक संवाद :

"जाहरां कुँवर तूं राणी पुछीयौ। कही—राज ए पातल तीन थे परि-सायर थे। जनावरा नै कैरे नांव थातौ छौ सु कहौ। ताहराँ कुंवर कही वैराना साच कही जै नहीं। ताहरां राणी कही तौ हूँ थांहरी अरध सरीरी किसी बिध छुं अर में थारैं पगां राखस ने मरायौ अर थे मना सांच कहौ नहीं तौ थांहरौ प्यार किसौ। ताहरां कुंवर कही—म्हारा तीन्ह चाकर छै। हूं बीच राख आयौ छुं। तेना ए पाताला परासूं छुं।"

(बात सूरां अर सतवादी री)

शैली की दृष्टि से ये कहानियाँ इतिवृत्तात्मक हैं। इनको नाटकीय, आत्मकथात्मक या कौतूहल पूर्ण ढँग से नहीं रचा गया।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी बात साहित्य की अपनी विशेषताएँ हैं जो उसे आधुनिक कथा-साहित्य से अलग करती हैं। इन कहानियों में चाहे आधुनिक कहानी जैसा कथा का गठन, मनोवैज्ञानिक, चरित्र-चित्रण, संवादों का उतार-चढ़ावा, जीवन की समस्याओं का यथार्थ उद्घाटन और बौद्धिक चिन्तन न हो पर उनमें जातीय भावनाओं का वर्णन, सामाजिक जीवन का स्वस्थ वातावरण और मानवता के अन्तरंग मिलन का चित्र अवश्य है।

———

राजस्थानी वेलि साहित्य : परम्परा और प्रगति

लोक साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें व्यक्तित्व का लोप कृतित्व में हो जाता है। व्यक्ति अलग से उभरा हुआ प्रतीत नहीं होता वह तो समाज की अन्तर्लय में ही अपनी तान मिलाया करता है। लोक मानस में अनन्त तरगें उठती रहती हैं, न उनका रूप बदलता है न रंग। काल की आंधी उसके रंग को फीका नहीं कर सकती, न देश विदेश की परिस्थितियां ही उसके रूप को विरूप कर सकती हैं। शिष्ट साहित्य पर भी कुछ अंशों में यह बात लागू हो सकती है। दोहा, सोरठा और सतसई की परम्परा, मंगल काव्यों का विधान, शतकों की धूमधाम इसके प्रतीक हैं। 'वेलि' नाम की परम्परा भी इसी सत्य को ध्वनित करती है।

वेलि साहित्य की परम्परा और उसका विकास

संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश वेलि साहित्य :

बल्ली, बल्लरी, वेलि और वेल संज्ञक रचनाओं की एक सुदीर्घ परम्परा रही है। वाङ्मय को उद्यान मानकर ग्रंथों को—चाहे वे व्याकरण, वेदान्त, दर्शन, धर्मशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, अलंकार शास्त्र, कोष, इतिहास, नीति-शास्त्र, काव्य आदि किसी भी विषय से सम्बन्ध रखने वाले हों—वृक्ष तथा वृक्षांगवाची-लता, मंजरी, पल्लव, कलिका, गुच्छक, कंदली, बीज आदि—नाम से पुकारने की प्राचीन परिपाटी रही है। वेलि तथा वेल संज्ञक रचनाएँ भी इसी प्रकार की हैं। कुछ उपनिषदों में अध्यायों या अध्यायों के विभाग का बल्ली नाम मिलता है। कठोपनिषद् में दो अध्याय और छह बल्लियां हैं। तैत्तिरीय उपनिषद के सातवें, आठवें और नवमें प्रपाठक को क्रमशः 'शिक्षावल्ली', 'ब्रह्मानंद वल्ली' और 'भृगुवल्ली' कहा गया है। आगे चलकर वल्ली संज्ञक कई रचनाएँ लिखी गई उनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—

(१) कठवल्ली उपनिषद् (२) षडवल्ली उपदिषद् (३) अम्बुज वल्ली कल्याणम् (४) अम्बुजवल्ली दण्डकम् (५) चातुर्मास्य व्रत कल्पवल्ली (६) द्रव्य गुण कल्पवल्ली (७) नानार्थ कल्पवल्ली (८) विकृतिवल्ली (९)

पद्धति कल्पवल्ली (१०) सूर्यसिद्धान्त सव्याख्य कल्पवल्ली (११) चण्डी सपर्या क्रम कल्पवल्ली (१२) मधु–केलिवल्ली (१३) सपर्या क्रम कल्पवल्ली (१४) क्षमावल्ली बीज (१५) चिकित्सा क्रम कल्पवल्ली (१६) पंचांग कल्पवल्ली (१७) श्रुत्यन्त कल्पवल्ली (१८) वेदांत सिद्धान्त कल्पवल्ली।

यही 'वल्ली' शब्द प्राकृत और अपभ्रंश में 'वल्लि' होता हुआ राजस्थानी में 'वेलि' तथा 'वेल' में रूपान्तरित होगया। इस नाम की सर्व प्रथम रचना रोड़ाकृत 'राउलवेल' है जिसका समय ११ वीं शती के लगभग है। विद्यापति ने अपनी रचना का नाम 'कीर्तिलता' रखा था पर उसे 'वल्लि' भी कहा है। इस प्रकार संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश से होती हुई यह वेलि साहित्य की परम्परा राजस्थानी-गुजराती और ब्रजभाषा में विकसित हुई।।

ब्रजभाषा वेलि साहित्य :

ब्रजभाषा में 'लता' 'और 'वेलि' दोनों नाम से लिखी जाने वाली अनेक रचनाएँ मिलती हैं। अकेले रसिकदास की २० 'लता' संज्ञक रचनाएँ और चाचा वृन्दावनदास की ७२ 'वेलि' संज्ञक रचनाएँ मिलती हैं। अन्य वेलिकार हैं—रामराय, तुलसीदास, घनानन्द, नागरीदास, पद्माकर, ब्रजनिधि, अमृतराम आदि।

गुजराती वेलि साहित्य :

गुजराती में कई जैन और जैनेतर कवियों ने वेलियों की रचना की है। जैन गुजराती वेलियों की रचना जैन-सन्तों द्वारा विशेष रूप से हुई है। एक स्थान पर चातुर्मास के सिवाय अधिक दिनों तक निवास करने का आचार नहीं होने से जैन साधु प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार करते रहे हैं। गुजराज और राजस्थान में जैन-साधुओं की अधिकता है। दोनों प्रान्तों में इनका विहार होता रहता है। इस कारण जैन गुजराती वेलियों की भाषा राजस्थानी मिश्रित है। अन्य अजैन गुजराती वेलियों के नाम इस प्रकार हैं—वल्लभ वेल (केशवदास वैष्णव), सीतावेल (वजिया), श्रुतवेल (जीवनदास), ब्रजवेल (प्रेमानंद), भक्तवेल (दयाराम) आदि।

वर्त्तमान काल का हिन्दी वेलि साहित्य :

आज भी ब्रज और राजस्थानी में साहित्य रचा जाता है। पर पहले की

तुलना में बहुत कम। अब अभिव्यक्ति का माध्यम खड़ी बोली (हिंदी) होने पर भी 'वेलि' अभिधान देखने को मिलता है। उसका क्षेत्र अब केवल पद्य (कविता) नहीं रहा वरन् गद्य (उपन्यास, नाटक) भी हो गया है। कुछ रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—

वंशवल्लरी (उपन्यास), अमरबेलि (उपन्यास), विजय बेलि (नाटक) आदि।

राजस्थानी वेलि साहित्य :

विषय और शैली की दृष्टि से संपूर्ण राजस्थानी वेलि साहित्य को तीन भागों में बाँट सकते हैं—

(१) लौकिक वेलि साहित्य।

(२) जैन वेलि साहित्य।

(३) ऐतिहासिक वेलि साहित्य।

कालक्रम की दृष्टि से इस साहित्य का इतिहास १५ वीं शती से १६ वीं शती तक रहा है।

पन्द्रहवीं शती का साहित्य :

'राउल वेल' को छोड़कर लिखित रूप में 'वेलि' संज्ञक रचना का कोई उल्लेख इस शताब्दी तक नहीं मिलता है। लौकिक वेलि साहित्य के रूप में जो रचनाएँ मिली हैं वे इस प्रकार हैं—

	रचना-नाम	रचनाकार	रचना-काल	छंद सं०
(१)	रामदेवजी री बेल	संतहरजी भाटी	१५ वीं शती का उत्तरार्द्ध	२४
(२)	रूपांदे री वेल	,,	,,	५८
(३)	तोलांदे री वेल	—	,,	४०
(४)	रत्नादे री वेल	तेजो	१५ वीं शती का अन्त	१५ पद

सोलहवीं शती का साहित्य :

(क) जैन वेलि साहित्य :

(१) कर्मचूर व्रत कथा वेलि भट्टारक सकलकीर्ति १६ वीं शती का आरंभ

(२) चिहुंगति वेलि — वांछा — सं० १५२० (लिपिकाल) — १३५
(३) जम्बूस्वामी वेल — सीहा — सं० १५३५ (लिपिकाल) — १८
(४) रहनेमि वेल — ,, — ,, — १६
(५) प्रभव जम्बूस्वामी वेलो — ,, — सं १५४८ (लिपिकाल) — २७
(६) पंचेन्द्रि वेलि — ठकुरसी — सं० १५५० — ६ भाग
(७) नेमिश्वर की वेलि — ,, — सं० १५५० के आसपास — ५भाग
(८) गरभ वेलि — लावण्यसमय — सं० १५५३-८६ के मध्य — ११४
(९) गरभवेलि(जइत वेलि) — सहजसुन्दर — सं० १५७०—८२ के मध्य — ३४
(१०) वेलि — छीहल — सं० १५७५-८४ के मध्य — ४ पद
(११) नेमि परमानंद वेलि — जयवल्लभ — सं० १५५७ के आसपास — ४८
(१२) वल्कल चीरकुमार; ऋषिराज वेलि — कनक — सं० १५८२-१६१२ के मध्य — ७५
(१३) क्रोत्र वेलि — मल्लिदास — सं० १५८८ — ३५
(१४) भरत वेलि — देबानंदि — – — २२
(१५) सुदर्शन स्वामीनो वेलि — वीरचंद — १६ वीं शती का अंत — अपूर्ण
(१६) जम्बूस्वामीनी वेलि — ,, — ,, — ,,
(१७) बाहुबलि की वेलि — ,, — ,,

(ख) लौकिक वेलि साहित्यः

(१) आई माता री वेल — संत सहदेव — सं० १५७६ — ३ पद

सत्रहवीं शती का साहित्य :

(क) जैन वेलि साहित्यः

(१) चंदनबाला वेलि — अजितदेव सूरि — सं० १५९७-१६२९ के मध्य — २६
(२) सव्वत्थ वेलि प्रबंध — साधुकीर्ति — सं० १६१४ के आसपास — ५४
(३) गुणठाणा वेलि — जीवंधर — सं० १६१६ (लिपिकाल) — २८
(४) लघु बाहुबलि वेलि — शान्तिदास — सं० १६२५ (लिपिकाल) — ६ पद

(५) जइतपद वेलि	कनकसोम	सं० १६२५	४९
(६) गुरू वेलि	भट्टारक धर्मदास	सं० १३३८ के पूर्व	२८
(७) स्थूलिभद्र मोहन वेलि	जयवन्त सूरि	सं० १६४२	२१५
(८) नेमिराजुल बारह मासा वेल प्रबन्ध	,,	सं० १६५० के आसपास	७७
(९) वर्द्धमान जिन वेलि	सकलचन्द्र उपाध्याय	सं० १६४३-६० के मध्य	७७
(१०) साधु कल्पलता साधुवन्दना मुनिवर सुरवेलि	,,	,,	१४४
(११) हीरविजय सूरि देशना वेलि	,,	सं० १६५२ के बाद	११३
(१२) ऋषभगुण वेलि	ऋषभदास	सं० १६६६-८७ के बीच	९ ढाल
(१३) बलभद्र वेलि	सालिग	सं० १६६९ (लिपिकाल)	२८
(१४) चारकषाय वेलि (अपूर्ण)	विद्याकीर्ति	सं० १६७० के आसपास	५९
(१५) सोमजी निर्वाण वेलि	समयसुन्दर	सं० १६७० के आसपास	१०
(१६) सीताशील पताका गुण वेलि	भट्टारक जयकीर्ति	सं० १६७४	
(१७) प्रतिमाधिकार वेलि	सामत	सं० १६७५ (लिपिकाल)	१८
(१८) वृहद् गर्भ वेलि	रत्नाकरगणि	सं० १६८०	१३ ढाल
(१९) पंचगति वेलि	हर्षकीर्ति	सं० १६८३	६ भाग
(२०) पार्श्वनाथ गुण वेलि	जिनराज सूरि	सं० १६८९	४४
(२१) मल्लिदासनी वेलि	ब्रह्म जयसागर	–	–
(२२) आदित्यवारनी वेलि कथा		–	–

(ख) चारणी वेलि साहित्यः

(१) किसनजी री वेलि	सांखला करमसी रूणेचा	सं० १६०० के आसपास	२२
(२) गुणचाणिक वेल	चूंडौ दधवाड़िया	१७ वीं शती का आरंभ	४१
(३) देईदास जैतावत री वेल	अखो भांणोत	सं० १६१३ के आसपास	२३
(४) रतनसी खींवावत री वेल	दूदो विसराल	सं० १६१४ के आसपास	७२

(५) उदैसिंघ री वेल	रामा सांदू	सं० १६१६ के आसपास	१५
(६) चांदाजी री वेल	बीठू मेहा दूसलांणी	सं० १६२४ के बाद	४१
(७) क्रिसन रुक्मणीरी वेल	राठौड़ पृथ्वीराज	सं० १६३७–४४ के मध्य	३०१ से ३०७
(८) त्रिपुर सुन्दरी री वेल	जसवन्त	सं० १६४३ (लिपिकाल)	६ दोहे २ कुंड०
(९) रायसिंघ री वेल	सांदूमाला	सं० १६५३ के आसपास	४३
(१०) महादेव पार्वती री वेल	आढ़ा किशना	सं० १६६०–१७०० के मध्य	३८२
(११) राउ रतनरी वेल	कल्यादास महडू	सं० १६६४-८८ के मध्य	१२३
(१२) सूरसिंघ री वेल	गाडण चोलो	सं. १६७२	
(१३) सोभा री वेल	सोभा	सं. १६८३ (लिपिकाल)	

अठारहवीं शती का साहित्य :

(क) जैन वेलि साहित्य :

(१) प्रवचन रचना वेलि	जिनसमुद्र सूरि	सं. १६९७-१७४० के मध्य	अपूर्ण
(२) बारहभावना वेलि	जयसोम	सं. १७०३	१३ ढाल
(३) हीरानंद वेलि	शुभंकर	सं. १७१२	७४
(४) गुणसागर पृथ्वी वेलि	गुणसागर	सं. १७२४ के आसपास	४६
(५) आदिनाथ वेलि	भट्टारक धर्मचंद	सं० १७३०	५ भाग
(६) षडलेश्या वेलि	साह लोहट	सं. १७३०	
(७) अमृत वेलिनी मोटी सज्भाय	यशोविजय	सं. १७००-३९ के मध्य	२९
(८) अमृत वेलिनी नानी सज्भाय	,,	,,	१९
(९) सुजस वेलि	कांतिविजय	सं. १७४५ के आसपास	४ ढाल
(१०) संग्रह वेलि	बालचंद	सं. १७७५	—
(११) नेमराजुल वेल (प्रभंग वेल)	चतुरविजय	सं. १७७६	२०५
(१२) नेमि स्नेह वेलि	जिन विजय–		१० ढाल

(१३) विक्रम वेलि	मतिसुन्दर	–	–
(ख) चारणी वेलि साहित्यः			
(१) रघुनाथ चरित्र नव रस वेलि	महेसदास	१८ वीं शती का प्रारंभ	१२७
(२) डूंगरसी जी री वेलि	समधर	सं. १७१७-३४,(लिपिकाल)	२६
(३) अनोपसिंह री वेल	गाडण वीरभांण	सं. १७२६ से पूर्व	४१
(ग) लौकिक वेलि साहित्य :—			
(१) पीर गुमानसिंघ री वेल	—	१८ वीं शती का अन्त	१०२

उन्नीसवीं शती का साहित्य :

(क) जैन वेलि साहित्य :			
(१) जीव वेलड़ी	देवीदास	सं० १८२४ के आसपास	२१
(२) वीर जिन चरित्र वेलि	ज्ञानउद्योत	सं. १८२५ के आसपास	१७
(३) शुभ वेलि	वीर विजय	सं. १८६०	
(४) स्थूलि भद्रनी शीयल वेल	,,	सं. १८६२	१८ ढाल
(५) स्थूलिभद्र कोश्या रस वेलि	माणकविजय	सं. १८६७	१७ ढाल
(६) नेमिश्वर स्नेह वेलि	उत्तमविजय	सं. १८६७	१५ ढाल
(७) सिद्धाचल सिद्ध वेलि	,,	सं. १८८५	१३ ढाल
(८) नेमिनाथ रस वेलि	,,	सं. १८८६	
(९) कल्प वेल	—	सं. १९२३ (लिपिकाल)	अपूर्ण
(ख) लौकिक वेलि साहित्य :			
(१) अकल वेल	—	१९ वीं शती (लिपिकाल)	२२
(२) बाबा गुमानभारतीरी वेल	चिमनजी कविया	१९ वीं शती का उत्तरार्द्ध	४४

असंभव नहीं कि अन्य प्रान्तीय एवं द्रविड़ परिवार की भाषाओं ने भी वेलि–परम्परा को जीवित रखा हो। समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि वेलि साहित्य का इतिहास उस सरित की तरह है जो विरल

रूप में अपने उद्गमस्थल से निकल कर मध्यवर्ती भागों (मैदानों) में विकुल प्रवाह के साथ बहती हुई मुहाने तक आते आते सूख सी गई है[1]।

क्या राठौड़ पृथ्वीराज वेलि-परम्परा के प्रवर्त्तक थे ?

पृथ्वीराज कृत 'कृष्ण रुक्मणी री वेलि' इतनी प्रसिद्ध रही कि आलोचक उसे न केवल सबसे प्राचीन वेलि वरन् पृथ्वीराज को वेलि-परम्परा का प्रवर्त्तक तक मान बैठे हैं[2] पर यह कथन साधार नहीं है । पृथ्वीराज से पूर्व राजस्थानी में कई चारणी तथा जैन वेलियाँ लिखी गईं । चारणी वेलियों में निम्नलिखित कृतियाँ पृथ्वीराज की वेलि से प्राचीनतर हैं ।—(१) राउल वेल (२) किसनजी री वेलि (३) गुण चांणिक वेल (४) देईदास जैतावत री वेल (५) रतनसी खींवावत री वेल (६) उदेसिंघरी वेल (७) चांदाजीरी वेल ।

उपर्युक्त चारणी वेलियों के अतिरिक्त निम्नलिखित जैन वेलियाँ भी पृथ्वीराज की वेलि से पूर्व रचित मिलती हैं—

(१) कर्मचूर व्रत कथा वेलि (२) चिहुगति वेलि (३) जम्बूस्वामी वेलि (४) रहनेमि वेलि (५) प्रभाव जम्बूस्वामी वेलि (६) पंचेन्द्रि वेलि (७) नेमिश्वर वेलि (८) गरभ वेलि (९) गरभ वेलि (जइत वेलि) (१०) वेलि (छीहल कृत) (११) नेमि परमानन्द वेलि (१२) वल्कल चीरकुमार ऋषिराज वेलि (१३) क्रोध वेलि (१४) भरत वेलि (१५) सुदर्शन स्वामीनी वेलि (१६) जम्बू स्वामिनी वेलि (१७) चंदनबाला वेलि (१८) सव्वथ वेलि प्रबंध (१९) गुणठाणा वेलि (२०) लघु बाहुबलि वेलि (२१) जइत पद वेलि (२२) गुरू वेलि ।

निम्नलिखितत लौकिक वेलियाँ भी पृथ्वीराज कृत वेलि से पूर्व की ही ठहरती हैं—

१–इधर श्री मुकनसिंह ने हाल ही में चारणी शैली में अमर शहीद भाटी शैतानसिंह, लोकदेवता पाबू जी और वीर अमर सिंह राठौड़ पर तीन वेलियां लिख कर इस परम्परा को फिर से जीवित किया है ।

२– पृथ्वीराज का यह ग्रंथ (वेलि) एक परम्परा की स्थापना करता है जिसे राजस्थान तथा ब्रजमण्डल के भक्त कवियों ने आगे तक निबाहने का प्रयत्न किया है—पृथ्वीराज के द्वारा लगाई गई इस वेलि को ये भक्त कवि नित्य सींचते रहे । —डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित : वेलि की भूमिका (प्रथम संस्करण) पृ. ४७

(१) रामदेवजी री वेल (२) रूपांदेरी वेल (३) तोलांदे री वेल (४) आईमाता री वेल।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पृथ्वीराज की वेलि 'वेलि-काव्य परम्परा' की प्रवर्त्तक न होकर चली आती हुई परम्परा में ही चिन्तामणि की भाँति अपना उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण करती रही है जिसके आगे न तो पूर्ववर्ती वेलियों का प्रकाश ठहर सका है न परवर्ती वेलियों का।

वेलि-नाम :

काव्य-विशेष के नामकरण में कई प्रवृतियाँ काम करती हैं। कभी वर्ण्य-विषय, कभी छंद, कभी शैली, कभी चरित्र, कभी घटना, कभी स्थान और कभी केवल मात्र आकर्षण-वृत्ति से प्रेरित होकर कवि लोग अपनी रचनाओं को विविध संज्ञाओं से अभिहित करते हैं। वेलि-नाम भी उनमें से एक है। इस नाम पर निम्नलिखित दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—

(क) वेलि शब्द की व्युत्पत्ति :

इस संबंध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डा० माताप्रसाद गुप्त तथा डा० भोलानाथ तिवारी इसे 'विलास' शब्द से विकसित मानते हैं। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डा० बाबूराम सक्सेना और डा० भोलाशंकर व्यास इसे संस्कृत 'वल्ली' अथवा 'वेल्लि' से व्युत्पन्न मानते हैं।

(ख) वेलि शब्द का कोषपरक अर्थ :

यह शब्द वल्लरी, बल्ली, बेल, बेलड़ी, बेलि वल्लर-वल्लरि, वल्लरी, वल्लि, वल्लिका, वल्ली, वेल्लि वेलिका आदि कई रूपों में मिलता है। यह शब्द मुख्य रूप से सन्तान, वंश, आनन्द, लता, उपवन, लहर आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। इससे संबंधित दो मुहावरे भी प्रचलित हैं। (१) बेल बढना-वंश वृद्धि होना। (२) बेल मेंढे चढ़ना-काम पूरा होना।

(ग) वेलि साहित्य में प्रयुक्त वेल या वेलि शब्द का तात्पर्य :

संपूर्ण वेलि साहित्य में वेल या वेलि शब्द निम्नलिखित ६ रूपों (अर्थों) में प्रयुक्त हुआ है—

(अ) वेलि-रूपकः—वेलि शब्द संसार, शरीर, कनक, पाप, ज्ञान, अमृत, सुयश आदि के साथ उपमान रूप में प्रयुक्त हुआ है।

(आ) काव्य-संज्ञा :—के रूप में कवियों ने वेलि या वेल शब्द का प्रयोग

प्रायः वेलि काव्य के आदि-अन्त मे किया है। कई वेलियों में यह प्रयोग नहीं भी हुआ है।

(इ) छंद-गीतः—छंद के नामोल्लेख के रूप में वेलि शब्द का प्रयोग वेलिकारों ने एकाध वेलियों में किया है।

(ई) साथी-सहायक :—रूप में वेलि शब्द का प्रयोग कतिपय स्थलों पर हुआ है।

(उ) लहर—तरंगः—लहर—तरंग के अर्थ में 'वेल' शब्द का प्रयोग कुछ स्थलों पर हुआ है।

(ऊ) लता—वल्लरी :—लता—वल्लरी के अभिधेय अर्थ में वेल, वेलि तथा लड़ी का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है।

(घ) वेलिनाम पर विद्वानों के विभिन्न मतः—समग्रतः इन मतों को निम्नलिखित ८ वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) वेलियों छंद के आधार पर वेलि—नामकरण की कल्पना करने वाला वर्ग।

(२) 'वेलि' के आधार 'वेलियो' छंद की संभावना प्रकट करने वाला वर्ग।

(३) वेलि को विवाह-मंगल-विलास के अर्थ में ग्रहण करने वाला वर्ग।

(४) वेलि रूपक की प्रतिपादना करने वाला वर्ग।

(५) स्तोत्रों को ही लिपिकारों की भूल से वेलि समझने वाला वर्ग।

(६) वेलि को केवल मात्र वीर-वीरांगनाओं के चरिताख्यान तक ही सीमित रखने वाला वर्ग।

(७) वेलि को यश और कीर्ति-काव्य के रूप में ग्रहण करने वाला वर्ग।

(८) वेलि को वल्ली, गुच्छक, स्तबक आदि अध्यायों से स्वतंत्र काव्य-विधा के रूप में विकसित मानने वाला वर्ग।

वास्तव में मूलरूप से वेलि शब्द किसी साहित्य के विशेष प्रकार का नाम नहीं है। 'लता' की भाँति किसी भी रचना के साथ यह जोड़ा जा सकता है। काल-प्रवाह के साथ वल्ली शब्द अध्याय या सर्ग का वाचक न रहकर एक स्वतंत्र काव्य-विधा का ही प्रतीक बन गया।

राजस्थानी वेलि साहित्य का वर्गीकरण :

राजस्थानी वेलि साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित दृष्टियों से किया जा

सकता है :—

(१) रचना-स्थलः—कुछ वेलियों अन्तःसाक्ष्य के रूप में रचना-स्थल का उल्लेख हुआ है। इससे पता चलता है कि इस वेलि साहित्य की रचना राजस्थान और [illegible] हुई है।

(२) रचनाकारः—वेलिकारों की स्थूल रूप से दो श्रेणियाँ हैं (क) चारण कवि और (ख) संत कवि। चारण-कवियों के दो वर्ग हैं। (१) (१) जन्म से चारण कवि। (२) काव्य-शैली से चारण कवि। संत-कवियों के भी दो वर्ग हैं। (१) जैन संत कवि और (२) जैनेतर संत कवि। जैन संत-कवियों में कुछ तो श्वेताम्बर हैं कुछ दिगम्बर। श्वेताम्बर जैन संत कवि दो प्रकार के हैं—तपागच्छीय और खरतर गच्छीय। जैनेतर संत कवियों में रामदेवजी और आईमाता के भक्त कवि आते हैं।

(३) रचना-शैलीः—रचना-शैली की दृष्टि से इसके तीन भाग किये जा सकते हैं—

(क) चारणी-शैली :—इस शैली में ऐतिहासिक और धार्मिक वेलियाँ लिखी गई हैं। इस शैली की प्रधान विशेषता है साहित्यिक डिंगल भाषा का प्रयोग। वयणसगाई शब्दालंकार सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है। छंद के रूप में छोटा साणोर अपने तीनों भेदों—वेलियो, सोहणो, खुड़दसाणोर—में आया है।

(ख) जैन-शैली :—इस शैली में कथात्मक, ऐतिहासिक एवं उपदेशात्मक जैन वेलियाँ लिखी गई हैं। इस शैली की प्रधान विशेषता है सरल सुबोध जनसाधारण की भाषा का प्रयोग। छंद भी लोक-धुन पर आधारित ढाल आदि प्रयुक्त हुए हैं। मात्रिक छंदों में दोहा, सार, सखी, हरिपद आदि प्रमुख हैं।

(ग) लौकिक शैलीः—इस शैली में लिखी गई वेलियाँ लोक-साहित्य के अन्तर्गत आती हैं। गायन-तत्व इस शैली की प्रमुख विशेषता है। भाषा ग्रामीण है जो आज भी जनसाधारण में बोली जाती है।

(४) रचना—स्वरूप:—रचना-स्वरूप की दृष्टि से वेलि साहित्य के दो रूप मिलते हैं—प्रबन्ध और मुक्तक।

(५) रचना-विषय:—रचना-विषय की दृष्टि से संपूर्ण राजस्थानी-वेलि साहित्य को तीन भागों में बांट सकते हैं—

(क) चारणी वेलि साहित्य:—इसके दो प्रधान भेद हैं—

(१) ऐतिहासिक:—इसमें राजकुल तथा सामन्त कुल के विभिन्न वीरों का यशोगान किया गया है।

(२) धार्मिक-पौराणिक:—इसमें विष्णु (कृष्ण और राम) और शिव-शक्ति के प्रति भक्ति-भावना प्रगट की गई है।

(ख) जैन वेलि साहित्य:—इसके तीन प्रधान भेद हैं—

(१) ऐतिहासिक:—इसमें वेलिकारों द्वारा अपने गुरू (धर्माचार्य) का ऐतिहासिक जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है।

(२) कथात्मक:—इसमें जैन-कथाओं को काव्य का विषय बनाया गया है। ये कथाएँ विशेषकर तीर्थंकर, चक्रवर्त्ती, बलदेव, सती तथा अन्य महा-पुरुषों से संबंधित हैं।

(३) उपदेशात्मक:—इसमें आध्यात्मिक उपदेश दिया गया है।

(ग) लौकिक वेलि साहित्य :—इसके तीन प्रधान भेद हैं—

(१) ऐतिहासिक—इसमें रामदेवजी, आईमाता तथा इनके भक्तों का जीवन-चरित्र वर्णित है।

(२) जनश्रुतिपरक—इसमें रत्नादे की वेल आती है। जनश्रुति के रूप में यह कथा मिलती है।

(३) नीतिपरक—इसमें 'अकल वेल' आती है जिसमें सामान्य नीति की बातें कही गई हैं।

वेलि साहित्य की सामान्य विशेषताएँ

चारणी वेलि साहित्य : ऐतिहासिक

पात्र-दृष्टि से इसे दो भागों में बांटा जा सकता है—

(क) सामन्त-कुल के पात्र और (ख) राजकुल के पात्र। इसी प्रकार विषय की दृष्टि से भी इसके तीन भाग किये जा सकते हैं—

(क) युद्ध वर्णन (ख) कीर्ति-वर्णन (ग) शृंगार वर्णन ।

सामान्य विशेषताएँ :

ऐतिहासिक चारणी वेलि साहित्य की सामान्यत–विशेषताएँ निम्न-लिखित हैं—

(१) इसमें राजा-महाराजा-सामन्तों की वीर प्रशस्ति गाई गई है। ऐतिहासिकता की (नामों, स्थानों एवं घटनाओं में) पूरी पूरी रक्षा की गई है। कहीं-कहीं राजा-महाराजाओं की वैयक्तिक घटनाएँ भी आई हैं जिनकी पुष्टि भी ख्यातों से होती है। अलौकिक तत्वों और कथानक रूढ़ियों का प्रायः आश्रय नहीं लिया गया है।

(२) यहाँ जो नायक हैं वे या तो राजा-महाराजा है। या सामन्त-सरदार। वीरता उनमें कूट कूट कर भरी है। अपने देश की रक्षा के लिए अथवा स्वामी-भक्ति के निर्वाह के लिए शत्रुओं से मुकाबला करने की अमिट साध ले कर ये आगे बढ़ते हैं। वीर होने के साथ साथ ये दानी, उदार, विद्वान और दयालु भी होते हैं। इनकी प्रेम-भावना का चित्रण यहाँ नहीं किया गया है यदि कहीं शृंगार आया भी है तो वीर भावना को उद्दीप्त करने के लिए ही।

(३) नायक की प्रशस्ति के साथ-साथ नायक की वंशावली का भी कतिपय वेलियों में उल्लेख किया गया है। 'सूरसिंघ री वेल' में जयचंद से लेकर सूरसिंह तक की राठौड़ वंशावली का और 'अनोपसिंघ री वेल' में आदिनारायण से लेकर अनोपसिंह तक की वंशावली का उल्लेख है।

(४) वीर रस अंगीरस बनकर आया है। वीभत्स, रौद्र, और भयानक वीर रस के ही सहायक हैं।

(५) वेलिकार चरित्र-नायक के समकालीन रहे हैं और स्वयं अपने नायक के साथ युद्ध क्षेत्र में भी लड़ते रहे है या युद्ध के समय उपस्थित रहे हैं।

(६) इस साहित्य की भाषा साहित्यिक डिंगल है। वयणसगाई का सर्वत्र प्रयोग हुआ है। छोटासाणोर अपने तीन भेदों—वेलियो, सोहणो, खुड़दसाणोर—में प्रयुक्त हुआ है। इतिहास की दृष्टि से इस साहित्य का बड़ा महत्व है।

चारणी वेलि साहित्य : धार्मिक--पौराणिक

इसके दो भाग हैं। विष्णु संबंधी और शिव-शक्ति संबंधी। विष्णु संबंधी वेलि साहित्य दो रूपों में मिलता है। कृष्ण विषयक और राम विषयक। शिव-शक्ति संबन्धी साहित्य के भी दो रूप हैं। शिव-विषयक और शक्ति विषयक।

सामान्य विशेषताएँ :

धार्मिक-पौराणिक चारणी, वेलि, साहित्य की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) काव्य की कथा का आधार श्रीमद्भागवत, विष्णु पुराण और शिव-पुराण रहा है। कवियों की दृष्टि कृष्ण, राम, शिव, रुक्मणी, पार्वती, और त्रिपुरसुन्दरी पर पड़ी है। कथा के विकास में अलौकिक तत्वों और कथानक-रूढ़ियों का प्रायः सहारा लिया गया है।

(२) कथा-प्रबंध में जगह जगह वर्णनों ने स्थान घेर रखा है। अन्य वर्णनों के अतिरिक्त नख-शिख निरूपण, विवाह-प्रसंग, युद्ध-वर्णन और प्रकृति चित्रण के स्थल बड़े ही कवित्वपूर्ण और रम्य हैं।

(३) यहाँ जितने भी पात्र आये हैं वे प्रधानतः दैविक गुणों से सम्पन्न हैं। कृष्ण, राम और शिव के दो-दो पक्ष हैं। वे आदर्श-प्रेमी बनकर मानव-लीला करते हैं पर उनके परब्रह्म का स्वरूप भी कम आकर्षक नहीं। कथा के आदि और अन्त में इनका ब्रह्मत्व फैला हुआ है तो कथा के मध्य में लौकिक सद्गृहस्थ का रूप। स्त्री-पात्रों के भी दो रूप हैं। मानवी और देवी। रुक्मणी और पार्वती सौंदर्य और शील की मूर्ति के साथ साथ ब्रह्म की शक्ति भी है। त्रिपुर सुन्दरी देवी के रूप में ही प्रगट हुई है। प्रतिनायक और खल-पात्र उपस्थित होकर संघर्ष पैदा करते हैं। संघर्ष का अन्त पाणिग्रहण संस्कार, पुत्र-जन्म और दुष्टों के दमन के साथ होता है।

(४) कथा-प्रबंध (कृष्ण रुक्मणी री और महादेव पार्वती री वेलि) में अंगीरस संयोग शृंगार है। दूसरा प्रमुख रस वीर रस है। जिसके सहायक बनकर ही वीभत्स, भयानक और रौद्र आये हैं। अन्य रसों की भी यथावसर अवतारणा की गई है। इन वेलियों के अन्त में शृंगार रस लौकिक धरातल छोड़कर धीरे धीरे भक्ति रस में पर्यवसित हो जाता है। मुक्तक (गुण चांणिक

वेल, त्रिपुर सुन्दरी वेल) में तो भक्ति की ही प्रधानता है।

(५) काव्य की भाषा प्रधानतः साहित्यिक डिंगल है। 'त्रिपुर सुन्दरी री वेल' बोलचाल की सरल राजस्थानी में लिखी गई है। इसमें न वयरण-सगाई का प्रयोग हुआ न 'वेलियो' छंद का।

जैन वेलि साहित्य : ऐतिहासिक

पात्र-दृष्टि से इसे दो भागों में बाँट सकते हैं—(१) श्रमणाचार्य तथा श्रमण और (२) श्रावक।

सामान्य-विशेषताएँ :

इस साहित्य की सामान्य-विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) ऐतिहासिक चारणी वेलि साहित्य की तरह यहाँ जितने भी पात्र आये हैं वे सब ऐतिहातिक हैं। ये पात्र प्रधान रूप से वेलिकारों के धर्माचार्य रहे है और गौण रूप से संघपति श्रावकादि।

(२) इन वेलियों में प्रायः धर्माचार्यों की पाट-परम्परा का निर्देश करते हुए कवि के गुरू-विशेष का जीवन-वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया है। सोमजी जैसे संघपति श्रावक भी श्रमण-कवि समय सुन्दर के वर्ण्य—विषय रहे हैं।

(३) इस साहित्य की भाषा बोलचाल की सरल राजस्थानी है। यहाँ काव्यत्व गौण है इतिवृत्त ही प्रधान है। छंदों में विविधता है। मात्रिक छंद-दोहा, सरसी, सखी, हरिपद—यहाँ व्यवहृत हुए हैं। 'सोमजी निर्वाण वेलि' तथा 'सव्वत्थ वेलि प्रबंध में 'वेलियो' छंद तथा वयणसगाई शब्दालंकार का प्रयोग हुआ है। 'सुजस वेलि' विभिन्न ढालों में लिखी गई है।

जैन वेलि साहित्य : कथात्मक

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इसे दो भागों में बाँट सकते हैं—पात्र-कोटि और तीर्थव्रतादि। पात्रों की पाँच कोटियाँ हैं—(१) तीर्थंकर (२) चक्रवर्ती (३) बलदेव (४) सती (५) अन्य महापुरुष। तीर्थ व्रतादिक दो रूप हैं—तीर्थ और व्रत।

सामान्य विशेषताएँ :

इस साहित्य की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) कथानक सामान्यतः त्रिशष्ठिशलाका पुरुष, सतियों और अन्य महापुरूषों से संबंधित है। पर वेलिकार तीर्थङ्करों में ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान महावीर स्वामी, सतियों में राजमती और चंदनबाला तथा महापुरुषों में रहनेमि, जम्बूस्वामी, बाहुबली, बल्कल चीरकुमार, स्थूलिभद्र और पृथ्वीचंद्र पर ही अधिक मुग्ध हुए हैं। इन पात्रों के अतिरिक्त तीर्थ (सिद्धाचल) तथा व्रत (कर्मचूर व्रत कथा) आदि को भी कथानक का विषय बनाया गया है। कथानक की रचना का आधार जेनियों के कर्म विपाक का सिद्धान्त रहा है। स्थल-स्थल पर पुनर्जन्मवाद, कथानक रूढ़ियों और अलौकिक तत्वों का सहारा लिया गया है।

(२) अपने धर्म के प्रति अडिग आस्था होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति इन कवियों की उदार दृष्टि रही है। धार्मिक सहिष्णुता का यह स्वरूप वस्तु और शिल्प दोनों में यथास्थल प्रगट हुआ है। वस्तु के अन्तर्गत कई पौराणिक नाम-वासवदत्ता, उदयन, सैरन्ध्री, कीचक, लाछलदे आदि आये हैं। शिल्प के अन्तर्गत छंद और लय पर लोक गीतों (विशेषकर ढालों) का प्रभाव है। इसका कारण शायद यह रहा है कि ये कवि अपने धर्म के नैतिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए जन-साधारण को आकर्षित करना चाहते थे।

(३) यहाँ जो पात्र आये हैं वे सामान्य नहीं हैं। सभी प्रमुख पात्र राजवर्ग से संबंधित हैं। उनमें विशेष सौन्दर्य, शक्ति और शील-बुद्धि है। नारी-चरित्र भी अपने में महान है। देव-पात्र भी धरती पर बार बार उतरते हैं। वे प्रधान-पात्र की प्रेम-स्फुरणा में भी सहायक होते हैं और संयम-धारणा में भी। मोहग्रस्त नायक को प्रतिबोध भी देते हैं। मानवेतर पात्र भी कथा को मोड़ देते हैं। कहीं ये अपनी करूण-कातर स्थिति से सारे कथा-सूत्र को बदल देते हैं तो कहीं सती के शील की रक्षा करते हैं और कहीं सद्भावना से अपनी आत्मा का कल्याण करते हैं, खल-पात्र और प्रतिनायक अभिशापित होते हैं या पश्चाताप की आग में तपकर निखर जाते हैं, संसार से विरक्त हो जाते हैं।

(४) यह साहित्य साधारणतः प्रेम कथापरक है। सारा वातावरण शृंगार से सुवासित है जो अन्त में आत्म-रति तथा ब्रह्म-रति का रूप ग्रहण कर लेता है। प्रेमोदय रूप-गुण-श्रवण, स्वप्न-दर्शन या साक्षात् दर्शन से होता है। कहीं नायक प्रयत्नशील होता है तो कहीं नायिका। अधिकांशतः नायिकाएँ प्रयत्नशील हैं नायक विरक्त हैं। उनकी विरक्ति को बदलने के लिए कभी जल-क्रीड़ा का आयोजन होता है, कभी हास-परिहास होता है, कभी नायिकाओं द्वारा कथा-संवाद सुनाये जाते हैं। नायक अनुरक्त हो उठते हैं पर किसी की मृत्यु, राज्य-

भोग की निरर्थकता या पशुओं की चीत्कार सुनकर उनकी प्रेम-भावना तिरोहित हो जाती है और विवाह संयम में बदल जाता है। शिव-रमणी उन्हें प्यारी लगने लगती है। वे शील से सगाई कर मुक्ति-वधू के साथ गठ-बन्धन बांध लेते हैं। नायिकाएँ भी संयम-मार्ग को अपना लेती हैं।

(५) सारा साहित्य प्रेम कथापरक होते हुए भी धर्म-भावना से आवृत्त और निर्वेद भावों से अनुस्यूत हैं। शान्त रस अंगीरस है। दूसरा प्रमुख रस शृंगार है। उसके संयोग और वियोग दोनों रूप व्यक्त हुए हैं। यह शांत रस की पीठिका बनकर आया है। वीर रस अन्य रसो में प्रधान है। यह भी शांत रस को ही उद्दीप्त करता है।

(६) इन-कथा-प्रबंधों में वर्णनों की प्रधानता है। रूप-वर्णन और प्रकृति चित्रण बड़े सुन्दर बन पड़े हैं। रूप-वर्णन नायक और नायिका दोनों का किया गया है। नायिका के रूप-वर्णन में रूढ़िगत उपमानों का ही प्रयोग किया गया है। इसे नख-शिख परम्परा का ही निर्वाह कहना ठीक होगा। प्रकृति-चित्रण के तीन रूप मिलते हैं। बारहमासा वर्णन, पखवाड़ा–वर्णन और आलंकारिक रूप। यहाँ प्रकृति दो काम करती है। शृंगार भावना को उद्दीप्त करती है और संयम भावना को पुष्ट करती है। संयम-भावना की पुष्टि के रूप में वह उपसर्ग-परीषह बनकर आती है। वर्षा, शरद् और ग्रीष्म का वर्णन इसी प्रसंग में किया गया है।

(७) इस साहित्य की भाषा बोलचाल की सरल राजस्थानी है। अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, सन्देह, भ्रांति आदि प्रयुक्त हुए हैं। अधिकांश अलंकार लोक-जीवन से चुने गये हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग हुआ है। कहीं कहीं जैन-दर्शन से संबंधित पारिभाषिक शब्द भी आये हैं।

(८) गेयता इस साहित्य का प्रमुख गुण है। अत: ढालों का ही विशेष प्रयोग किया गया है। लोक-धुनें इन्हें विशेष प्रिय रही हैं। यथावसर रागों का निर्देश कर दिया गया है। अन्य छंदों में दोहा, सरसी, हरिपद आदि प्रमुख हैं।

जैन वेलि साहित्य : उपदेशात्मक

वर्ण्य—विषय की दृष्टि से इसे ७ भागों में बाँट सकते हैं—गति विषयक, इन्द्रिय विषयक, गुणस्थान विषयक, भावना विषयक, कषाय विषयक, पूजा विषयक और अन्य।

सामान्य विशेषताएँ :

इस साहित्य की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) जैनदर्शन निवृत्ति प्रधान दर्शन रहा है । उसने शरीर की अपेक्षा आत्मा को, इहलोक की अपेक्षा परलोक को और राग की अपेक्षा विराग को अधिक महत्व दिया है । अतः जैन कवियो ने भी जन-साधारण तक यही सन्देश पहुँचाया है। कभी मन को मोह माया से दूर हटकर शुभ-योग की ओर प्रवृत्त होने की चेतावनी दी है, कभी क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायों का परित्याग कर क्षमा, विनय, सरलता और सन्तोष को अपनाने का उद्‌बोधन दिया है । कभी बारह-भावना भाने की ओर संकेत कर मनुष्य जन्म की दुर्लभता, संसार की नश्वरता और जीव-दया प्रतिपालना का महत्व समझाया है । कभी नरक गति की यातनाओं का तथा गर्भगत जीव की दारुण-कठिनाइयों का भयंकर चित्र खींचकर जीव को सिद्ध गति को ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी है, कभी इन्द्रियों की विषय-लोलुपता का वर्णन कर इन्द्रिय-निग्रह और मनोयोग की बात कही है । कभी जिन-प्रतिमा की पूजा कर हृदय को पवित्र बनाने का उपदेश दिया है ।

(२) इन उपदेशों में धार्मिक सहिष्णुता का स्वर मुखरित है। बीच बीच में विषय-विवेचन की पुष्टि के लिए जो अन्तर्कथाएँ आई हैं उनमें जैन-कथाओं के साथ साथ पौराणिए कथाएँ भी हैं ।

(३) इन कवियों का स्वर संत-कवियों की तरह विद्रोहात्मक भी है। स्थल-स्थल पर बाह्य-क्रिया-काण्डों, तीर्थ-व्रतादि का विरोध कर आंतरिक शुद्धता और मन की पवित्रता पर बल दिया गया है।

(४) इस साहित्य की भाषा बोलचाल की सरल राजस्थानी है ।

लौकिक वेलि साहित्य :

यह साहित्य तीन रूपों में मिलता है—ऐतिहासिक, जश्रुनतिपरक और नीतिपरक । ऐतिहासिक लौकिक वेलि साहित्य को पात्र-दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है—रामदेवजी और उनके भक्त तथा आईमाता और उनके भक्त ।

सामान्य-विशेषताएँ :

इस साहित्य की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) यह वेलि साहित्य सामान्यतः मौखिक रूप में ही आईपंथी लोगों द्वारा समय समय पर गाया जाता रहा है । और अब भी गाया जाता है ।

(२) काव्य की कथा प्रायः ऐतिहासिक पात्रों से संबंधित है । धर्म-भावना की तीव्रता के कारण अलौकिक तत्वों एवं कथानक-रूढियों का समावेश हो गया है ।

(३) प्रधान-पात्र वैदिक गुणों से सम्पन्न हैं । नारी चरित्र पुरुष चरित्र की अपेक्षा अधिक सशक्त, दीप्तिमान और कर्त्तव्य परायण है । प्रधान पात्र राजबर्ग से संबंधित हैं । अन्य पात्र निम्न वर्ग के—मेघवाल, कुम्हार, ढोली, भोमिया आदि—हैं । दोनों वर्गों में भक्ति-समर्थक और भक्ति-विरोधक पात्र मिलते हैं । नायिका सामान्यतः विवाहित और भक्ति निष्ठ होती है । पड़ोसिन, सौत, सास, पति आदि उसकी भक्ति-भावना में बाधक होते है । फलस्वरूप संघर्ष शुरू होता है । संघर्ष का अन्त भक्ति-भावना के जय-घोष के साथ होता है प्रति-नायक प्रायश्चित ही नहीं करते वरन् उसी भक्ति मार्ग में दीक्षित होकर अपना जीवन सार्थक समझते हैं । खल-पात्र अभिशापित होकर दण्ड भोगने हैं । नायक-नायिका का जयजयकार होता है ।

(४) इस साहित्य के रचनाकार स्वयं उच्चकोटि के भक्त रहे हैं और अपने आराध्यदेव के समकालीन ही नहीं बरन् उनके कार्या-कलापों में भी भाग लेते रहे हैं ।

(५) गेयता इस साहित्य का प्रमुख गुण है । भजनीक लोग रात्रि को आईजी के मंदिर के बाहर बैठकर इसे बड़ी श्रद्धा से समवेत स्वर में गाते हैं ।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि वेलिकाव्य की धारा लगभग चार शताब्दियों तक निरन्तर बहती रही है । कभी उसने संयम का लोकोतर रस पिलाया तोकभी लौतिक शृंगार का आस्वादन कराया, कभी ऐतिहासित तत्वों को उभारा तो कभी लोक संस्कृति को निखारा ।

———

वीर रसात्मक प्रमुख वेलि ग्रन्थ

राजस्थानी वेलि साहित्य प्रधानत: तीन धाराओं में होकर बहा है—चारणी वेलि साहित्य, जैन वेलि साहित्य और लौकिक वेलि साहित्य। चारणी वेलि साहित्य के दो रूप हैं—ऐतिहासिक और धार्मिक–पौराणिक। जैन वेलि साहित्य के तीन रूप हैं—ऐतिहासिक, कथात्मक और उपदेशात्मक। लौकिक वेलि साहित्य के भी तीन रूप हैं—ऐतिहासिक, जनश्रुतिपरक और नीतिपरक। इनमें वीर रस का परिपाक प्रधानत: ऐतिहासिक चारणी वेलि साहित्य में हुआ है। सहायक रस के रूप में वीर रस कतिपय जैन तथा लौकिक वेलि साहित्य में भी मिलता है।

अंगीरस के रूप में वीर रस निम्नलिखित वेलियों में आया है—

	रचना	रचनाकार	रचना-संवत्
(१)	देईदास जैतावत रीवेल	अखो भांणौत	स० १६१३ के आसपास
(२)	रतनसी खींवावत री वेल	दूदौ विसराल	सं० १६१४ के आसपास
(३)	उदैसिंघ री वेल	रांमा सांदू	सं० १६१६ के आसपास
(४)	चांदाजी री वेल	वीठू मेहा दूसलांणी	सं० १६२४ के बाद
(५)	रायसिंघ री वेल	सांदू माला	सं० १६५३ के आसपास
(६)	राउ रतन री वेल	कल्याणदास महडू	सं० १६६४-८८ के मध्य
(७)	सूरसिंघ री वेल	गाडण चोलौ	सं० १६७२
(८)	अनोपसिंघ री वेल	गाडण वीरभाण	सं० १७२६ से पूर्व
(९)	वीर जिन चरित्र वेलि	ज्ञान उद्योत	स० १८२५ के आसपास

सहायक रस के रूप में वीर रस निम्नलिखित वेलियों में आया है—

	रचना	रचनाकार	रचना-संवत्
(१)	रामदेवजी री वेल	संत हरजी भाटी	१५ वीं शती का उत्तरार्द्ध
(२)	रूपांदे री वेल	संत हरजी भाटी	,,
(३)	तोलांदे री वेल	—	,,
(४)	रत्नादे री वेल	तेजौ	१५ वीं शती का अन्त
(५)	लघु बाहुबलि वेलि	शांतिदास	सं० १६२५
(६)	क्रिसन रुक्मणी री वेलि	राठौड़ पृथ्वीराज	सं० १६३७-४४ के मध्य

(७) महादेव पार्वती री वेलि आढा किसना सं० १६६०-१७०० के मध्य
(८) रघुनाथ चरित्र नव रस वेलि महेस दास १८ वीं शती का प्रारम्भ
(९) पीर गुमानसिंघ री वेलि — १८ वीं शती का अन्त
(१०) बाबा गुमान भारती री वेल चिमनजी कविया १९ वीं सती का उत्तरार्द्ध

प्रस्तुत निबन्ध में राजस्थानी वीररसात्मक प्रमुख वेलियों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) देईदास जैतावत री वेल[1] —प्रस्तुत वेल बगड़ी के सामन्त देवीदास से संबंध रखती है। ये जोधपुर नरेश राव मालदेव के सेनापति पृथ्वीराज जैतावत के सहोदर कनिष्ट भ्राता थे। सं० १६१६ में इन्होंने बिहारी पठानों को पराजित कर जालोर पर अधिकार किया था। इसके रचयिता बारहठ अखो भांणौत रोहड़िया शाखा के चारण तथा बादशाह अकबर के समकालीन थे। इनके पिता का नाम भाणा था जो जोधपुर के राव मालदेव के कृपा-पात्र थे। पांच वर्ष की अवस्था में ही अखा के माता-पिता चल बसे। कहा जाता है कि तब मालदेव की राणी झाली स्वरूपदे ने इन्हें पाला-पोसा था। मालदेव के पुत्र उदयसिंह इनके हमजोली थे। संवत् १६४३ में जोधपुर के तत्कालीन राजा उदयसिंह ने चारणों पर क्रोध कर समस्त चारण जाति को देश-निकाला दिया था। इसके प्रतिवादस्वरूप चारणों ने आउआ ठिकाने में धरना दिया। इन्हीं धरना देने वालों से सुलह का मार्ग निकालने के लिए उदयसिंह ने अखा को भेजा। अखाजी सुलह कराने की बजाय स्वयं धरने में सम्मिलित हो गये। इस पर उदयसिंह ने इन्हें कहलवाया कि इससे अच्छा तो कटार खाकर मर जाना था। इन्होंने ऐसा ही किया।

२३ छन्दों की इस वेल में देवीदास जैतावत के युद्ध-कौशल एवं वीर-व्यक्तित्व की अभिव्यंजना की गई है। देवीदास ने अपने ज्येष्ठ भ्राता पृथ्वीराज का बदला लेने के लिए मालदेव के पुत्र चन्द्रसेन के साथ मिल कर जयमल पर (मेड़ते पर) आक्रमण किया था।[2] वि० सं० १६१३ में मालदेव की तरफ से

---

[1] इसकी हस्तलिखित प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर, के ग्रंथांक १३६ (८) में सुरक्षित है। लेखक ने इसे वरदा : वर्ष ३, अंक ४, में प्रकाशित कराया है।

[2] मांडाया जु तैं पृथीमल मागिण,
वसुधा ताइ सांचा वाखाण।
माल कलोधर हीयौ मेड़तै,
तैं मालदे तणा मेल्हांण ॥ १२

हाजी खां को सहायता देकर हरमाड़ा गांव के पास उदयपुर के महाराणा उदयसिंह, बीकानेर के महाराजा राव कल्याणमल तथा मेड़ता-नरेश जयमल की सम्मिलित सेना को भी (देवीदास ने) पराजित किया था।[1] देवीदास का व्यक्तित्व बड़ा जबरदस्त था। कवि ने बार-बार उसे 'अखैराज अभिनवा'[2] कहा है। उसे देख कर जैतसी का भ्रम हो जाता है। वह दल का शृंगार और देश तथा वंश का दीपक है। बादशाही सेना के लिए वह उस सिंह के समान है जिस पर रौद्ररूपी पाखर पड़ी हुई है।[3]

(२) रतनसी खींवावत री वेल[4]— इसका रचयिता दूदौ विसराल नाम का कोई कवि है। ७२ छन्दों की इस रचना में एक ऐतिहासिक घटना—हाजी खां का पलायन तथा जैतारण-पतन का वर्णन है। अकबर बादशाह ने शेरशाह के सेनापति हाजीखां (जिसने अजमेर पर अधिकार कर रखा था) का दमन करने के लिए एक सेना भेजी। हाजीखां डर कर गुजरात की तरफ भाग गया और मुगल सेना ने जैतारण पर अपना फौजी अधिकार कर लिया। जैतारण की इस लड़ाई में राठौड़ रतनसिंह खींवावत, राठौड़ किशनसिंह जैतसिंहोत आदि सरदार मारे गये।[5]

वेलिकार ने जैतारण के युद्ध-वर्णन में विषकन्या का विराट् सांगरूपक बांधा है। मुगल सेना रूपी कुमारी को—जो अपने पूर्ण यौवन पर है—दुल्हिन बना कर तथा राठौड़ रतनसिंह खींवावत को दूल्हा बना कर कवि ने पाणिग्रहण संस्कार की मर्यादा का पूर्ण निर्वाह किया है। अन्त में युद्ध रूपी काम-क्रीड़ा-रत रतनसिंह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

मुगल सेना रूपी विषकन्या का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि वह कामदेव के समान मतवाली है। उसमें विवाह करने का उत्साह भरा हुआ है।

---

१ मिलि जैमिल रांण कल्यांण मेड़तै, घणूं ज वैहता बिरद घण।
 बल छांडियौ तुहारे बोले, त्रिहुं ठाकुरे जैत तण।। ११

२ अखैराज बगड़ी के मूल संस्थाधक थे। राव रिणमल का पौत्र तथा अखैराज का पुत्र पंचायण हुआ जिसका बेटा जैता हुआ, जिससे ये जैतावत कहलाये।

३ दलनाइक अगड़ तुम्हारी देदा, कोइ न हाले अडस करि।
 पाखर रौद्र लगै पतिसाही, प्रघट पंचाइण तणि परि।। १७

४ इसकी हस्त लिखित प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर (ग्रंथांक ६२) में है।

५ जोधपुर राज्य का इतिहास—प्रथम खण्ड, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पृ० ३२१-२२।

वह नगाड़ों की गड़गड़ाहट के साथ मदमस्त हो जब चलने लगती है तब उसका यौवन उफनने लगता है—

रोस कसौय घूंमती रमती,
चुंवती मदन महारस चौल् ।
हाली घड़ नीसांण हुबाए,
रिण पाखर करि नेवर रौल ॥६

हाथी घोड़ा का आडम्बर उसके घूंघट का घेरा है । हाजीखां उसके आतंक से कांप कर गुजरात की ओर भाग गया और अपने दूल्हेपन को सिद्ध न कर सका—

वींदपणौ अजमेर बिसारे ।
खिसियौ ल्हिसीयौ हाजीखांन ॥९

पाणिग्रहण संस्कार को यों बिगड़ते देख कर मुगल सेना रूपी युवती विषम गति से जैतारण की ओर आई । उसने सोलह से दूने शृंगार सजे । तीक्ष्ण भालों की अणी ही उसके नाखून थे और तेज चमचमाते हुए कुंत ही कटाक्ष थे । दुश्मनों की सेना को नष्ट करने वाले आयुध ही उसके लिए सवा लाख हार थे ।[1] इसी रूप पर मोहित होकर रतनसिंह ने शीशा डसने वाली तोपों के वक्र नेत्रों से प्रणय के इशारे किये, तलवार के रूप में कुसुमायुध के पंचशरों का संधान किया, सेना की हुंकारों के मंगल गीतों के बीच सिर पर मौड़ धारण किया और मन में क्षत होने का अनुराग लेकर कृपाण की मेखला बांधे विवाह के नगाड़े बजवाये ।[2]

१—विकट अणी नख कुंत वधारे, भुजि भलका भाला भालोड़ ।
खापर फौज पाधरी खड़िया, जैतारिणी ऊपरि जंग जोड़ ॥१७
अरिघड़ दूण सुवालख आवध, सोलह दुंणि सजे सिणगार ।
कुंत कबाण छुरी काछोली, मल्हपी गुरिज ग्रहे चक्रमार ॥ १८

२—सीहण डसण तण वयण नयण सिंघ, धनष मदन सार पंच सुधूप ।
रूप कियो तो ओपरि रतनै, रिम घड़ि नौव तेरह तस रूप ॥१९
अति दिन लगन महूरति ऊपड़ि, धवल् मंगल् दल हुंकलि धौड़ ।
मीर घड़ा परणण कूमारी, मारु रैणि बांधीयौ मौड़ ॥२०
मन खत राग बंधालक मौजा, कटि मेखला कसीयै कुरवांण ।
आवी मोर घड़ा ओपडांखी, निर्धसिते नेवरि नीसांण ॥ २१

पाखरों की पायल पहने, कराघातों का कांकरण धारण किये[1], जड़ित जिरह की कंचुकी और कवच की साड़ी लपेट[2], नयनों के कटाक्ष बाण छोड़ती हुई, कवच कड़ियों को झकझोरती हुई, घूमर नृत्य करती हुई, बत्तीस लक्षणों से युक्त मुगल सेना रूपी विषकन्या रतनसिंह का वरण करने के लिए आगे बढ़ी।[3] उसने सोने का सेहरा बांधा और तलवार से पाणिग्रहण किया। जैतारण के युद्ध में चमकती हुई तलवारों ने तोरण बांधने की रस्म पूरी की[4] तो हाथी-दाँतों के रूप में हँसती हुई मुगल सेना की विष-कन्या ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की। योद्धाओं के मरने से अंगरहित अर्थात् अनंग होकर वह कामार्त्त हो उठी।

रावतों का सरदार रतनसिंह उसी दिन से सचमुच दूल्हा बना। उसका मौड़ आकाश के लिए स्तंभवत बन गया।[5] किले के लिए कोटस्वरूप किशनसिंह यशस्वी बराती सिद्ध हुआ।[6] ढाल रूपी थाल में भाले रूपी अक्षतों से रतनसिंह को बधाया गया।[7] युद्धस्थल रूपी सेज पर गलबांही देकर रतनसिंह ने मीर कुमारी के साथ आनन्द-भोग भोगा।[8]

विधिवत् सभी वैवाहिक रस्में पूरी की गई। शत्रुओं का शिरोच्छेदन करना ही कलश उतारना है। अत्यन्त गंभीर घावों को सहना ही मुँह दिखाना है। गिद्धों के पंखों का फैलना ही छत्र-चंवरों का सजना है। तलवारों की मुठभेड़

१—पाखर घोर वाजती पायलि, कांकरण हायल चूड़ि कसि।

२—चीर जरद पाखर चंडाउणि, कांचू जिरह जड़ाव करि॥

३—नयण कटाक्ष बैण नीछरतै, कसि विहुं दिसि फेरती कड़ा।
उठि रयण परणेवा आई, घूमर कीधै मीर घड़ा॥२६॥

४—मंड है वियण सेहरा कांमणि, कर गेवार माती किरिमालि।
ढूकी ढाल वेणि ढलकंती, तोरणि जैतारिणि रिणि तालि॥२७॥

५—रावत वींद नरिंद रतनसी, विरत दैति वींदवणि।
मौड़ मुगटि सिरि टोप मांडीयै, लागे ओठियो अभिलगि॥

६—काला कोटि दुबाहा कमधजि, किसन अणवर रयण कन्है॥

७—उडीयण थाल आवधे आखे, अति प्रबहुलां हायले अनींद।
भलके खगे ऊनगे भाले, बधाविजै रतनसी वींद॥३३॥

८—डसण सयण रतनसी दमंगलि, माथ गलोयलि भींच रहै।
धड़ आरति ऊतारै धरि, वरमाला किरिमाल वहै॥३४॥

से रुधिर के परनालों का बहना ही सिन्दूर का छिटकना है। छत्तीस प्रकार के शस्त्रों का संचरण ही छत्तीस प्रकार के व्यंजनों का रसास्वादन है। दोनों सेनाओं का परस्पर युद्ध करना ही वर-वधू का जुआ खेलना है।[1]

वर-वधू का समागम भी बड़ा विचित्र है। क्षत्रियत्व की रक्षा करने वाले रतनसिंह ने तलवारों के प्रहारों से मीर-सेना रूपी युवती की कंचुकी के कसने तोड़-तोड़ कर उसे रतिक्रीड़ा में परिश्रान्त कर दिया।[2] वह बेचारी अस्तं-व्यस्त वस्त्रों को लेकर जा छिपी। रतनसिंह मुगल सेना रूपी विष-कामिनी के साथ संभोग-सुख में इतना लवलीन हो गया कि उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। हाड़, मांस और रक्त चारों ओर फैल गया। सुअर, डाकणियां, भूत, प्रेत आदि इकट्ठे होकर आनन्द के साथ इनका भक्षण करने लगे। रतनसिंह ने वीरों को खंड-खंड कर, हाथियों को मार-मार कर इतना रक्त प्रवाहित किया कि सभी उसे पीकर तृप्त हो गये। वह इस संसार में अब नहीं रहा। वह तो मर कर स्वर्गलोक का स्वामी बन गया। देवता रतनसिंह को आशीर्वाद दे रहे हैं। अप्सराओं और सतियों की आत्माओं के साथ रमण करता हुआ वह वैकुंठ में निवास कर रहा है। भाला अब भी उसके हाथ में वीरता का उद्घोष कर रहा है।[3]

(३) उदैसिंघ री वेल[4]—इसके रचियता रामा सांदू उदयपुर के महा-राणा उदयसिंह के समकालीन थे। इसमें वेलिकार ने १५ छंदों में उदयसिंह की ही प्रशंसा की है। कवि के अनुसार उदयसिंह का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभा-वक है।[5] वह धर्मशास्त्रों का ज्ञाता, विष्णु का परम भक्त और काव्यानुरागी

१—देखिये छन्द संख्या ३१ से ४४

२—रिणवट खाग खत्रीवटि रतनै, घाइ मनाई मीर घड़ा।
लोहां खीये तोड़ीया लाडै, कांचू जोसण कसण कड़ा॥३४॥

३—रंभ भंकोल् विचालइ रतनौ, आतम वरँम सतीयाँ विवभ्रंत।
भूलर भल्हल्ते भूंभारे, कूंतहथौ वसीयउ बैकुंठ॥६॥

४—इसकी हस्तलिखित प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर (ग्रंथांक १३६) में है।

५—ऊजम अंग अगाहि अडप जिम आसति, पौहवि न कौई एव सुपह।
एकाएक अऊब एकाणवि, सिंघ तणा परिकार सहि॥१॥

है।[1] उसकी वाणी वैरियों के लिए भी सरस है। स्वामिभक्ति में वह वट वृक्ष की तरह दृढ़ है।[2] आश्रित जनों के लिए अन्न-जल स्वरूप है। उसकी वृत्ति निर्मल, चित्त उत्तम और शरीर पवित्र है। वह छन्दशास्त्र का आचार्य तथा संस्कृत-प्राकृत का पंडित है। उसके समान दानी, ज्ञानी और अभिमानी इस संसार में दूसरा कौन है? संसार के सभी राजा उसकी सेवा में तत्पर रहते हैं—'सब सेवै भूअवै सकल'।

(४) चांदाजी री वेल[3]—इसके रचयिता वीठू मेहा दूसलांणी दूसलां के पुत्र या वंशज थे। इसमें राव मालदेव के यशस्वी सरदार तथा मेड़ता के राव वीरमदेवजी के चतुर्थ पुत्र चांदाजी के वीर व्यक्तित्व की गौरव-गाथा गाई गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस कृति का बड़ा महत्व है। वेलि को पढ़ने से ज्ञात होता है कि चांदाजी ने सोलंकियों के दांत खट्टे किये थे।[4] अपने भाई जगमाल के साथ मिल कर अजैपुर (अजमेर) और रायपुर पर एक दिन में अधिकार किया था।[5] फलौदी के रणक्षेत्र में भाटियों का भ्रम दूर भगाया था। गुजरात की सेना का यश मिट्टी में मिला दिया था। बिलाड़े के रणक्षेत्र में सुल्तान बादशाह की सेना का दमन किया था। मेड़ता के मणिखांन के साथ दो माह तक युद्ध मन्थन किया था।[6] नागौर के खान (दौलत खाँ) के साथ मुकाबला कर चांदा ने अपनी वीरता प्रदर्शित की। इस लड़ाई में वरसिंघ, सूरसिंघ, कान्हा, हपरा, अखा, सीहावत आदि भी बहादुरी से लड़े।

१—सूरति सत सील साच अमसात्र विसन भगति अधिकार विमेक।
रूपक राग राजवट रांणौ, उदयसिंघ संजाणे एक ॥२॥

२—आखै तन अलीन मूक ऊवचर, वैरी है सरसौ वयण।
सु सांइवट तणौ सांगावत, भूपन कौ अनि नर भुवण ॥५॥

३—इसकी हस्तलिखित प्रति मोतीचंद खजाँची, बीकानेर के संग्रहालय में है।

४—पहलोई सोलंकियां जाय पौहतो, निरंभय चंद बांधीयै नेत।
भागौ ते कीलणहर भिडंते, खांडा पांणि वणहटै खेत ॥२॥

५—घोड़ै दीह अजैपुर घोपहि, असुर घणा रायपुर उथालि।
एकै दीह उभै आखाड़ा, जीता चंद अनै जगमालि ॥४॥

६—मास बे महण मेड़तै मथीयौ, असंख कटक मेले अगियांन।
आंगमणि चांदौ नह आवै, खार खयौ जौवै मणिखान ॥६॥

(५) रायसिंघ री वेल[1]—अनुमान है कि इसके रचयिता सांदूमाला रहे हों। ४३ छन्दों की इस रचना में बीकानेर के महाराजा रायसिंह के बचपन और यौवन के साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन किया गया है। जिस अवस्था में अन्य राजकुमार कौड़ियों का खेल खेलते हैं, उस अवस्था में (बाल्यावस्था में) रायसिंह ने मुगल दरबार तक अपनी विजय-दुंदुभी बजवादी।[2] सात वर्ष की अवस्था में उसका प्रभाव सातों द्वीपों पर्यन्त फैल गया तो आठवें वर्ष के प्रवेश ने उसे प्रसिद्धि का पात्र बना दिया। नवमें वर्ष का तेज पृथ्वी के नवों खण्डों पर छा गया तो दसवें वर्ष ने उसके साम्राज्य का विस्तार कर दिया।[3] दिल्लीनाथ अकबर तक उसकी प्रभाव गरिमा व्याप्त हो गई। बड़े बड़े राजाओं का गर्व चूर हो गया और उसके अश्व पर चढ़ते ही पृथ्वी की मर्यादा टूट गई। पन्दह वर्ष की अवस्था में तो वह सुरताण की सेना से जा भिड़ा।[4]

वेलिकार ने बादशाह अकबर से रायसिंह की नाराजगी और गुजरात की लड़ाइयों की ओर भी संकेत किया है।

(६) राउ रतन री वेल[5]—इसके रचयिता कल्याणदास, मेहडू शाखा के चारण डिंगल के प्रसिद्ध कवि जाडा मेहडू के पुत्र थे। ये जोधपुर के महाराजा गजसिंह के कृपा-पात्रों में से थे। १२३ छन्दों की इस रचना में बूंदी के राजाओं की वंशावली (देवीसिंह से लेकर चरित्र-नायक रतन सिंह तक) प्रारंभ में देकर रतनसिंह की गुणगाथा गाई गई है। वह भीम के समान वीर, कर्ण के समान दानी तथा विक्रम के समान दयालु था। शारीरिक पराक्रम में भी वह किसी से पीछे न था। कंवरपदे में ही काशी के समीप चरणाद्रि स्थान पर उसने शरीफ खां का वध किया था। इस युद्ध का वर्णन बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। युद्ध-स्थल का एक चित्र देखिए:—

१—इस की ह० प्रति अनूप सं० ला०, बीकानेर, (ग्रंथांक १२६ (क) में सुरक्षित है।

२—जिण वेस प्रवेश करे रायजादा, कबडी मंडवा करण।
वेस तेस सुरतांण वदीता, रासे जिता महा रिण ॥२॥

३—सतदीप रायसंघ वरस सात में, परबत कुल आठ में प्रवेश।
नवमैं वरस वजवजीयौ नवखंड, दसमें वरस वंदे देस ॥३॥

४—रायकुमार राजथंभ रतन रायसंघ, सुरतांणी फौजां सरस।
असपत घड़ा लीहड़े आडौ, वाजीयौ, पनरहमैं वरस। ॥६॥

५—इसकी हस्तलिखित प्रति साहित्य संस्थान, उदयपुर में है।

धारू जळधार बलकि सिरिधड़ धड़,
बळ वळ किरि बादब में बीज।
ऊलळ छंट रयण ओवड़ीयौ,
भूतल खळ रहीया रत भींज ॥

रतन की वीरता का वर्णन आलंकारिक शैली में किया गया है। वह अपनी धाक से समुद्र को हिला देने वाला है। 'मारे हीलोले महण'। पृथ्वी पर आसमान टूट पड़े तो उसे कोई चिन्ता नहीं—

इळ माथे त्रूटि पड़े जो अंबर,
कोई अनि वीर न धीर करै।
नरबद हरा तणौ जगि निहंचौ,
र जोवतौ करगि धरै ॥

उसमें ताकत इतनी कि—

मेर उपाड़ि झाड़ि पल माहीं,
अळग धरै रयण असहाय।

यहाँ तक कि सूर्य और चन्द्र भी ग्रहण के समय उसके आगे दीन बन कर सहायता के लिए प्रार्थना करते हैं—

सूरिज ससि करै पुकार रयण सौं, ग्रहण अनथां जेम ग्रहें।
बिजड़े राउ तणा ऊपर बळि, राह तणौ डर न क्यों रहै ॥

वह इतना वीर और साहसी है कि—

काळांनल भौज तणौ कांधाळो, मछराळौ सूंडाळौ भार।
दताळां सूंडाळा दोमझि, गळां ले मडे गुंजार ॥
कूंभाथळ फौड़ै ओड़ै कांधा, मोड़ै नी जोड़ै गजमार।
कुण रौड़ै जोड़ै कांथाल, वीछोड़ै विण खूटी वार ॥

काव्य में युद्ध-वर्षा-रूपक सुन्दर बन पड़ा है। संग्राम-स्थल नदी, दोनों सेनाएँ नदी के दो किनारे और रक्तधार जलधारा तथा रतनसी बादल—

सलिता संग्राम सुतट दोइ सेना, गति जळ रुहिर लहर गजगाह।
करपै मीन चीहूर मै काभी, वह धार अद्‌भुत मेवाह ॥

इसी प्रसंग को इस ढग से आगे बढ़ाया है कि वीभत्स दृश्य भी रम्य बन गया है—

"पल पंक फेण धज उसनो पड़िया, कूरम तुरस टोप सिर कोड़ि।
वड कर धनख आवरत वणीया, जरद पड़े ओहाळां जोड़ ॥

मकरा मय घड़ा हंस हंसा मै, बग मै ग्रीध मोर महसाद ।
पलचर रातल दादुर पंखी, साथ अनेक भयानक साद ।।
मातंग कमळ सिर नांन्हा मोटा, पड़ीया कण माळा पांस ।
आहंनीके जम अर बिंदां वणीया, तरण खत्री मै वांस ।।
पणिहारि सकति माली ऊमापति, करिवा कमळ माळ चै काम ।
नव गति अछर हूर तिणि नदि चै, वरण मरण जळ तट में बाम ।।"

(७) सूरसिंघ री वेल[1]—इसके रचियता गाडण चोला (जिसे चौथजी भी कहा जाता है) सूरसिंह के राज्याश्रय में थे । ३१ छन्दों की इस रचना में सूरसिंह के पूर्वजों का वर्णन कर विविध उपमानों के साथ सूरसिंह (बीकानेर के महाराजा) की अन्य राजाओं के साथ तुलना की गई है जिसके कतिपय अंश इस प्रकार हैं—

(१) अरहट अवर पह इन सर गिरयन, मेर महण घण सूरजमाल ।
(२) धरपति अवर जोवतां मणधरि, सूर विरद घण सहस-फण ।
(३) अधिपति अवर मदार ईखतां, खेड़ सुपह खित सागर खीर ।
(४) जल नदि अवर अवर नर जांमलि, जगि सूरजमल गंग जळ ।
(५) तार कथीर काच अन भूपति, हेम हीर नग जैतहर ।
(६) संसार प्रसाद वाद पारिख सुज, फेर पखै जोवतां फेर ।
पह कमठांण थंभ पह बीजा, सूरकलस धज ताससेर ।।
(७) पंख वग संख वीना बीजा पह, सूरगरू है सवंस सुध ।।

(८) अनोपसिंह री वेल[2]—इसके रचयिता गाडण बीरभांण बीकानेर के महाराजा चरित्रनायक अनूपसिंह के समकालीन थे । ४१ छन्दों की इस रचना में अनूपसिंह की कीर्तिगाथा तथा आदिनारायण से लेकर अनूपसिंह (काव्यनायक) तक की वंशावली वर्णित है । कवि के कथनानुसार अनूपसिंह अमिट त्यागी और तलवार का धनी है ।[3] उसका तपोपुंज व्यक्तित्व सूर्य की तरह है जिसके उदित होते ही शत्रुरूपी तारे अस्तित्वरहित हो जाते हैं ।[4] वह याचकों के लिए

---

१ इसकी हस्त० प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी बीकानेर (ग्रंथांक १२६) में है ।
२ इसकी हस्त० प्रति अनूप संस्कृत लायब्रेरी, बीकानेर (ग्रंथांक १२६) में है ।
३ आंनो इमट त्याग नित ईखां, तिजड़ साहियै करण तण ।
४ उदियौ जेम अरक वडै वंस ओपम, उडगि अरहर भाजि अंधार ।

आश्रयस्थल[1] एवं कवि रूपी चकवों के लिए किरणमाल है।[2] प्रतिज्ञापालन में पांडवों की तरह, गति और शत्रु-विनाश में हनुमान की तरह, संयम में यति गोरख की तरह और सत्यवादिता में युधिष्ठर ती तरह है।[3] स्त्रियों के सम्मुख वह समुद्र की तरह प्रशान्त और गंभीर है तो अपने प्रभाव-प्रभुत्व में हिमालय की तरह उन्नत।[4] वह अनाथों का नाथ तथा निर्बलों का बल है।[5]

(६) वीर चिन चरित्र वेलि[6]—इसके रचयिता मुनि श्री ज्ञानउद्योत तपागच्छीय पुण्यसागर के शिष्य ज्ञानसागर के शिष्य थे। इस रचना में जैनियो के २४ वें तीर्थंकर भगवान महावीर के 'वीरत्व' को प्रकट किया गया है। दीक्षा लेने के बाद बारह वर्ष तक छद्मावस्था में रहकर महावीर ने तपश्चरण काल में विभिन्न उपसर्गों एवं परीषहों का[7] समभाव पूर्वक सामना किया था।

---

१ जाचक ओढंभ साहियै जड लग।

२ कवि चकवां नै किरणाल।

३ पह पगे-करगे पांडव पिण, पहुँचि हणू किलै वलि पात।
जति गोरख जुजिठल सच जीहा, हयवर त्रवण हिरन बड हाथ।

४ सहजां भांमणै संपेखित सायर, ऊंचाई परवत अधिकार।

५ नाथण अनाथ अर निबलां बल कुंवर।

६ इसकी हस्तलिखित प्रति अभय जैन ग्रंथालय, बीकानेर, में है।

७ (क) **वर्षा**–लाई ध्यान की तारी, वन में ठाढें उपशमंधारी।
मेघ घटा चढ़ी आई, पवन की झकोर झूझे झकलाई।
झूकलाई पौंन झकोर चिहुंदिसि, दमक दाखैं दामिनी।
दादुर चातुक मोर रव थैं, पीरी विरही कामिनी।
तिणै समें वीरो रहै धीरौ, जलद परीसह सवि सहें।
अहो अहो अहो अहो मतिवर धन्य तुझ परि, अचल भूधर नवि रहें।

(ख) **शीत**–तिम शीत कालें सीत सबलो, वायु वाह भुंखरा।
हिम पडल जोरें वोरे वोरें, हरित वन जिम झांखरा।
वरत सून तपन तंबोल तरुणी, तूलीका घण आदरे।
तिणें लमें वन गिरी शीत देसें, स्वामी अवावड गुण वरैं॥

(ग) **ग्रीष्म**–जिण कालि रूयं जडि ताय तडकां, शृंग फाटें मृग तणा।
सर वापी कूप निवांण नदियां, सुस्क दीसे अति घणा॥
धनसार मिश्रित सरस चन्दन, सजल वन आदरें।
तिणें समें जिनवर अमित गुणधर, तपन तापै तप करें॥
इम सर्व काले विसम परीसह, भूमि परिसंध सही।
इत्यादिक पडि वर्जित, निकांमी अपरीग्रही॥

आत्मा की यही वीरता प्रदर्शित करना कवि का उद्देश्य रहा है।

उपर्युक्त जिन आलोच्य ६ वेलियों में वीर रसात्मक भावनाओं का संचरण हुआ है। उनमें 'रतनसी खींवावत री वेल' तथा 'राउ रतन री वेल' ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शेष वेलियों में वीर रस का प्रसार प्रशस्ति तक ही सामान्यतः सीमित रहा है। विस्तार-भय से सहायक रस रूप में वीर-रस जिन वेलियों में प्रयुक्त हुआ है उनका उल्लेख भर किया जा सका है।

★

'क्रिसन रुक्मणीरी वेलि' में

श्रृंगार, शील एवं अध्यात्म का अद्भुत समन्वय

पृथ्वीराज बीकानेर–नरेश राव कल्याणमल के पुत्र और राव जैतसी के पौत्र थे। उनमें एक ओर मरु–हृदय को स्निग्ध करने वाली प्रेम की अन्तः सलिला प्रवहमान थी तो दूसरी ओर मारू बाजे की गुरु–गंभीर उद्घोषणा को जन्म देने वाली वीरत्व व्यंजिनी दर्पमयी धड़कन थी। परम सुन्दरी सहृदया लालादे के अकाल-निधन हो जाने पर जैसलमेर के रावल हरराज की कन्या चम्पादे से पुनर्विवाह कर रूप और सौंदर्य के साथ साथ काव्यामृत का पान इस कवि ने किया था तो अकबर के राज दरबार में रहकर भी महाराणा प्रताप के व्यक्तित्व को, उनकी मान–मर्यादा एवं कुल परम्परा को इस आजादी के दीवाने ने सुरक्षित रखा था। यह महाकवि सेवक होकर भी स्वामी से महान था, पराधीन होकर भी स्वाधीन भावों का आदर्श था, मरुवासी होकर भी रसिकता का सजल मेघ था। वीर, शृंगार और भक्ति की त्रिवेणी बहाकर हृदय–वेलि को पल्लवित, पुष्पित और फलवित कर, इस क्रान्तदर्शी ने 'वेलिक्रिसन रुकमणी' रूप 'पांचवे वेद' की सृष्टि की।

वेलि में कृष्ण और रुकमणी की प्रणय एवं विवाह कथा का निबन्धन है। मंगलाचरण के बाद ही कवि ने शृंगार रस प्रधान काव्य में स्त्री–वर्णन को प्राथमिकता देना ही कुल परम्परा समझा :—

'सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा, सुकवि अनेक से एक सन्थ ।
श्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि, गूंथियै जेणि सिंगार ग्रन्थ' ॥ ८ ॥

दक्षिण दिशा में विदर्भदेशान्तर्गत कुन्दनपुर नामक नगर में भीष्मक राजा राज्य करता था। उसके पाँच पुत्र (रुक्मि, रुक्मबाहु, रुक्माली, रुक्मकेश और रुक्मरथ) और एक पुत्री रुक्मणी थी। वह लक्ष्मी का अवतार थी। बाल क्रीड़ा करती हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानों मानसरोवर में कोई मराल–शावक तैर रहा हो या मेरु पर्वत पर दो दल वाली सद्यः उत्पन्न स्वर्ण लतिका लहरा रही हो —

'रामा अवतार नाम ताइ रूषमणी, मान सरोवरि मेरु गिरि ।
बालकति करि हंस चौ बालक, कनक बेलि बिहु पान किरि ' ॥ १२ ॥

इस बालिका का बचपन विभिन्न बाल-लीलाओं में व्यतीत होने लगा। शारीरिक विकास इस द्रुत गति से होने लगा कि अन्य बालिकायें जितना एक वर्ष में बढ़ती थी उतना यह एक मास में और अन्य जितना एक मास में बढ़ती थी उतना यह एक पहर में, बत्तीस लक्षणों से युक्त यह राजकुमारी गुड़ियों से मनोरंजन करने लगी —

अनि वरिस वधै ताई मास वधै ए, वधै मास ताइ पहर वधन्ति ।
लखण बत्रीस बाल लीला मैं, राजकुंअरि ढूलड़ो रमन्ति ' ॥ १३ ॥

इस प्रकार खेलते-कूदते, सखियों के साथ हंसते गाते, भोला बचपन धीरे धीरे खिसकने लगा और चपल यौवन शनैः शनैः आगे बढ़ने लगा। यह वयः संधि की अवस्था नारी जीवन की ऐसी अवस्था है जिसका चित्रकार पूरा चित्र नहीं उतार पाता, कवि पूरा सौन्दर्य नहीं निरख पाता। न मालूम कितने 'गही गही गरब गरूर' चित्रकार 'कूर' बन गये। रूप देखकर किसी को स्तंभ होता तो हाथ ही रूक जाता, कम्प होता तो रेखाएँ टेढ़ी–मेढ़ी हो जातीं (और अगर केमरा होता तो शायद जड़ता के कारण वह नीचे गिर पड़ता) स्वेद होता तो चित्र का रंग ही फीका हो जाता और ज्योंही चित्र बनाकर चित्रकार नायिका से मिलान करता कि उसका क्षण क्षण परिवर्तित रूप चित्र में विभेद डाल देता और चित्रकार बेचारा आश्चर्यान्वित होकर 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयताया' की दुहाई देता। इसीलिए हैरान होकर शृंगारी कवि बिहारी को लिखना पड़ा—

'लिखन बैठि जाकी छबी, गही गही गरब गरूर ।
भये न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ' ॥

पर हमारा कवि तो अध्यात्म का सम्बल लेकर काव्य पथ पर चल पड़ा :—

सैसव तनि सुखपति जोवण न जाग्रति, वेस संधि सुहिण सुवीर ।
हिव पल पल चढतौ जि होइसै, प्रथम ज्ञान एहवी परि ॥ १५ ॥

शैशव में यौवन की सुषुप्ति होती है, जागृति नहीं पर वयः संधि में यौवन की स्वप्नावस्था होती है सुषुप्ति नहीं। कितनी सटीक और सार्थक बात कवि ने कही है। वेदान्त दर्शन के अनुसार जीव की चार दशाएँ हैं। (१) जागृत (२) स्वप्न (३) सुषुप्ति और (४) तुरीय। जागृत अवस्था ज्ञान की

वह अवस्था है जिसमें काम अर्थात् इच्छा वर्तमान रहती है। स्वप्नावस्था वह अवस्था है जिसमें न तो पूर्ण अज्ञान ही रहता और न जागृति-बोध ही। सुषुप्ति वह अवस्था है जिसमें पदार्थ-बोध तनिक भी नहीं रहता। यह अवस्था प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था है। कवि ने यहाँ पर शैशवावस्था को यौवन की सुषुप्ति अवस्था इसलिए कहा है कि जिस प्रकार सुषुप्ति में जीव को परब्रह्म का ज्ञान नहीं होता उसी प्रकार शैशवावस्था में यौवनागम का ज्ञान नहीं होता। वयः संधि स्वप्नावस्था का काल है। जिस प्रकार वय: संधि काल में यौवनागम की आहट का मन्द स्वर सुनाई तो पड़ता है पर स्पष्ट नहीं। उसी प्रकार स्वप्न में भी न जागृति रहती है न सुषुप्ति। यौवन जागृतावस्था है जब उसे स्पष्ट बोध हो जाता है। तुरीय अवस्था का प्रयोग इसलिए नहीं किया गया कि कवि को उससे प्रयोजन नहीं है।

शृंगार और अध्यात्म की यह मिली जुली अनुभूति कवि की ऊर्ध्वगामिनी चिन्तना, मनोहारिणी कल्पना एवं मौलिक सूझ-बूझ की द्योतक है। विद्यापति के वयः संधि वर्णन में यह आध्यात्मिकता कहाँ[1] ? बिहारी के वैभव-विहार में यह सात्विकता कहाँ ? विद्यापति की वयः संधि में शैशव-यौवन एक रंग हो गये हैं तभी तो दोनों नेत्र कानों की राह पकड़ लेते हैं। नायिका की वचन-चातुरी और मुस्कराहट क्या है मानों चांद धरती पर उतर आया हो —

> 'सैसव जौवन दुहु मिलि गेल।
> स्त्रवन क पथ दुहु लोचन लोल॥
> बचन क चातुरि लहु लहु हास।
> धरनिये चाँद कएल परगास॥'

मुग्धा के शरीर में ऐसा कामदेव प्रविष्ठ हुआ है जो निद्रा से जाग तो गया है पर जिसने अभी तक आँखें नहीं खोली हैं, 'जागल मनसिज मुदित नयान'। पृथ्वीराज की नायिका को यौवनागम का ज्ञान इसलिए हुआ कि 'हिव पल पल

१.:— विद्यापति के इस बाह्य संसार में भगवद् भजन कहाँ ? इस वयः संधि में ईश्वर से संधि कहाँ ? सद्यः स्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ ? अभिसार में भक्ति का सार कहाँ ? उनके पदों में वासना की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं, उनसे हृदय मतवाला हो सकता है, शान्त नहीं।

—डॉ० रामकुमार वर्मा

चढ़तौ जि ह्वैइसे' पर विद्यापति की राधा तो 'मुकुर लई अब करई सिंगार' यही नहीं वह तो निर्जन स्थान में अपने नवप्रस्फुटित उरोजों को देखकर प्रसन्न हो उठती है—

'निरजन उरज हेरए कत बेरि ।
हसइ से अपन पयोधर हेरि ।।'

वहाँ सात्विकता एवं संयम-शील का चरम आदर्श लेकर रुकमणी हमारे सामने आती है जिसे माता-पिता के सम्मुख आँगन में घूमते फिरते 'काम बिराम छिपाडण काज' भी लज्जित होना पड़ता है। इस नवीन प्रकार की लज्जा से यौवन का आगमन सूचित होता है ऐसा समझकर वह लज्जा करने में भी लज्जित होती है 'लाजवती अंगि एह लाज विधि, लाज करन्ती आवै लाज ।' फिर भला उसमें इतना साहस कहाँ कि वह यौवन से जबाबतलब कर सके। प्रसाद के 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की कोमा की तरह वह कह सके कि—

'यौवन तेरी चंचल छाया ।
इसमें बैठ घूंटभर पीलूं जो रस तू है लाया ।
मेरे प्याले में मद बनकर कब तू छली समाया ।
जीवन-वंशी के छिद्रों में स्वर बनकर लहराया ।
पल भर रुकने वाले ! कह तू पथिक कहाँ से आया ?'

पर उसके हृदय में शांति कहाँ ? उसके बाल्यकाल का साथी बचपन आज उससे विदाई ले रहा है। वह उसे किस प्रकार विदाई दे। उसके मुख से बोल नहीं निकल पा रहे हैं, उसके पाँव 'सी आॅफ' करने के लिए स्टेशन की ओर बढ़ नहीं पा रहे हैं। उसे ऐसा महसूस हो रहा है कि वह—

'सिमिट रही सी अपने में,
परिहास गीत सुन पाती है।' —प्रसाद

क्योंकि यौवन आ रहा है इसीलिए तो—

'छूने में हिचक, देखने में
पलकें आंखों पर झुकती हैं,
कलरव परिहास भरी गूंजें,
अधरों तक सहसा रुकती हैं।'

—कामायनी : प्रसाद

वह करे भी तो क्या करे ? इसीलिए पृथ्वीराज ने इतना ही लिख दिया—

'जम्प जीव नहीं आवतौ जाणे, जोवण जावणहार जण ।
बहु बिलखो बीछड़ती बाला, बाल संघाती बालपण' ॥१७॥

कितनी स्वाभाविक व्यंजना है। अनुभूति का तीव्र भावालोक पद पद में व्याप्त है, घरेलू पारिवारिक वियोग-मिलन की सहज भाव मुद्रा है। ऊपर से भावना को थोपना नहीं पड़ा। बड़े से बड़े रूपक और उत्प्रेक्षा की सिद्धि कवि ने अलंकारों के बिना भी करदी। बिहारी ने नायिका के शरीर में 'ताफता रंग, की दीप्ति देखी है क्योंकि—

'छुटी न सिसुता की झलक, झलक्यौ जोबनु अंग ।
दीपति देह दुहूनु मिलि, दिपति ताफता-रंग'।

विद्यापति की दृष्टि युद्ध-रूपक पर पड़ी। उन्हें तो शैशव और यौवन में युद्धारम्भ होते दिखाई दिया 'दुहु दल-बले दन्द परि गेल'। कभी यौवन का पल्ला प्रबल होने से नायिका अपने केशों को संवार कर बांधती है और वक्षस्थल को खोल देती है तो कभी शैशव का पल्ला प्रबल होने से अपनी वेणी को खोल डालती है और अंगों को लज्जावश ढक लेती है—

कबहु बांधय कच कबहुँ बिथारी ।
कबहुँ झांपय अंग कबहु उघारि ।'

शैशव-यौवन को इस प्रकार लड़ते देख कामदेव नरेश ने अज्ञात-यौवना सुन्दरी के शरीर में प्रवेश कर अपना आधिपत्य जमा लिया। अमेरिका के प्रेसिडेन्ट की तरह 'स्पाइॅल सिस्टम' (Spoil-system) का अनुयायी बनकर कामदेव राज्य कर्मचारियों में परिवर्तन करने लगा। अलग अलग व्यक्तियों के (अंगों) को भिन्न २ 'पोर्टफोलियो' दे दिये गये। कटि कि गुरुता नितम्बों को दे दी गई। (यह इस प्रकार किया गया कि कटि को क्षीण करके उसके सार से दूसरे नितम्बों की रचना की गई)[1] प्रकट हास्य और अप्रकट कुच के 'ट्रान्सफर' एक

१ :—अपने तन के जानिके, जोवन नृपति प्रवीन ।
स्तन, मन, नैन, नितम्ब को, बड़ो इजाफौ कीन ।
नव नागरि तनु-मुलक लहि, जोवन आमिल जोर ।
घटि बढि ते बढि घटि रकम, करी और की और ।
ज्यौं ज्यौं जोवन-जेठ, दिन-कुच मिति अनि अधिकाति ।
त्यौं त्यौं छिन छिन कटि-छपा, छीन परति नित जाति ।
—बिहारी

दूसरे के स्थान पर कर दिये गये। अब हास्य अप्रकट हो गया और कुच प्रकट हो गये। इसी प्रकार चंचल चरणों और स्थिर नेत्रों के 'पोर्टफोलियो' भी बदल गये। अब चरण स्थिर हो गये और नेत्र चंचल हो उठे।

'कटि क गौरव पाओल नितम्ब।
एक क खीन अओक अवलम्ब।
प्रगट हास अब गोपत भेल।
उरज प्रगट अब तन्हिक लेल।
चरन चपल गति लोचन पाव।
लोचन क धैरज पद तल जाव॥'

पृथ्वीराज यद्यपि राजकुमार थे पर उन्हें कामदेव का नरेश-रूप लुभा नहीं पाया। इसलिये उन्होंने शैशव को शिशिर और यौवन को वसन्त रूप में देख कर ही एक ओर हृदय को वासन्ती पवित्रता से भर कर ताजगी का अनुभव किया तो दूसरी ओर प्रकृति के प्रति भी अपनी स्वाभाविक अभिरुचि व्यक्त की। बचपन रूपी शिशिर के समाप्त होते ही यौवन रूपी वसन्त अपने सहायक गुण (सौंदर्य) गति चंचलता मति 'आनन्द' आदि को लेकर रुकमणी के शरीर में प्रकट हुआ।

'सैसव सु जु सिसिरि वितीत थयौ, सहु गुण गति मति अति एह गिणि।
आप तणौ परिग्रह ले आयौ, तरूणापौ रितुराउ तिणि'॥ १६॥

प्रसाद ने भी 'कामायनी' के 'काम' सर्ग में शैशव को शिशिर और यौवन को वसन्त के रुप में देखा है। उनका जीवन-वन का वसन्त, रजनी के पिछले पहरों में अन्तरिक्ष की लहरों में कहता हुआ चुपके में आता है—

'मधुमय बसंत जीवन वन के,
वह अंतरिक्ष की लहरों में।
कब आये थे तुम चुपके से,
रजनी के पिछले पहरों में।'

यौवनागम की सूचना या अनुभूति कुचों के बढ़ने के साथ-साथ होती है। इसका वर्णन पृथ्वीराज, विद्यापति, बिहारी आदि कवियों ने पूर्ण तल्लीनता के साथ किया है। पृथ्वीराज में सात्विक संयम है, विद्यापति में मादक उत्तेजना है और विहारी में अफीमी उद्वेग। विद्यापति बाला के कुचों के क्रमिक विकास का चित्र खींचते हुए चार विकास-सोपान की बात कहते हैं—

'पहिल बदरि कुच पुन नवरंग।
निन दिन बाढ़ए पिड़ए अनंग॥

से पुन भए गेल बीज कपोर।
अब कुच बाढल सिरिफल जोर॥

[यौवन के प्रारंभ में कुच बेर फल के समान थे और फिर बढ़कर नारंगी के समान हो गये। और कामदेव कुच-वृद्धि के साथ २ अधिक पीड़ा देने लगा। जिस प्रकार बीज अंकुरित होने के पश्चात् क्रमशः बढ़ते बढ़ते पोर (वृक्ष की गांठ) बनता है उसी प्रकार कुच भी उसी के समान मोटे और दृढ़ हो चले। थोड़े ही दिनों के बाद वे श्रीफल के समान हो गये] पर पृथ्वीराज इस प्रकार क्रमिक विकास बताकर वासना की गंध नहीं फैलाते, काम भाव को उद्दीप्त नहीं करते बल्कि वे तो उषा और रात्रि का सहारा लेकर रुकमणी के बढ़ते यौवन की सूचना दे देते हैं—

'पहिलौ मुख राग प्रगट थ्यौ प्राची, अरुण कि अरुणोद अम्बर।
पेखे झिरि जागिया पयोहर, संझा वंदण रिखेसर।'

(मुख की प्रारंभिक लाली प्रकट हुई, जैसे अरुणोदय के समय आकाश लाल हुआ हो। उसे देखकर पयोधर ऐसे उठने लगे जैसे प्रातः काल को आया जानकर संध्या वन्दन के लिए ऋषि तत्पर हुए हों)

विद्यापति ने तो उरोजों के निकलने के स्थान को अरुणिम होते देखा है 'उरज उदय थल लालिमा देल' कामदेव द्वारा वक्षस्थल पर स्थापित मंगल घटों के रूप में, सेव्य योग्य उच्च स्थान के रूप में उनका पवित्रीकरण किया है "तइअओ काम हृदय अनुपाम। रोपल घट ऊचल कए ठाम।" केशों से ढके हुए कुचों को ऐसे रूप में देखा है जैसे किसी ने महादेव की सुवर्ण प्रतिमा को चंवर से ढक दिया हो— उर हिल्लोलित चांचर केस।
चांपर झांपल कनक महेस।'

पर वह पवित्रता नहीं झलक पाई जो पृथ्वीराज के ऋषि-रूपक में। मुख-सौन्दर्य की लालिमा और कुचों की वृद्धि का एक साथ इतना वासनामय और अध्यात्म प्रधान वर्णन करने वाला कवि भारतीय साहित्य में ही नहीं विश्व साहित्य में संभवतः दूसरा कोई नहीं हुआ। न तो यहां 'ब्रह्म' कवि की नायिका सी निर्लज्जता है कि कवि कह उठे—

'खेलत संग कुमारन के, सुकुमारि कछू सकुचो जिय मांही।
काम कला प्रगटी अंग अंग विलोकि हंसी अपनी परछांही॥
'ब्रह्म' भनै न रहै उर अंचल, तू छिन ही छिन ढांपत काही।
डारति हो सिव के सिर अम्बर, ए तौ दिगम्बर राखत नांहि॥'

और न मतिराम की सी नायिका ही वह है कि—

'इतै उत सकुचत चितै, चलत डुलावति बांह
दीठि बचाय सखीन की, छिनक निहारति छांह ॥'

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि कवि की दृष्टि रुकमणी के कुच-सौन्दर्य पर नहीं पड़ी। अवश्य पड़ी और वह अपनी सरसता के वशीभूत होकर फूट भी पड़ा—

कामिणी कुच कठिन कपोल करी किरि,
वेस नवी विधि वाणि बखाणि ॥
अति स्यामता विराजति ऊपर,
जोवण दाण दिखालिया जाणि ॥२४

कामिनी के कठिन कुच ऐसे हैं जैसे हाथी के कुंभस्थल और उनके श्यामल अग्रभाग ऐसे हैं जैसे मस्त हाथी की भांति यौवन ने मद दिखलाया है। कितनी सुन्दर कल्पना है। यौवन हाथी है, कुच कुंभस्थल और श्यामल अग्र भाग मद। साहित्य शास्त्रियों ने मद का रंग काला ही माना है। बड़े से बड़े अलंकारवादी कवि से भी कवि होड़ ले रहा है और बड़े से बड़े रसवादी को भी चुनौती दे रहा है। विद्यापति को सुवर्ण के रंगवाली देह में कुच ऐसे प्रतीत हुए मानों सुवर्ण लता में उत्तुंग मेरु उत्पन्न हुआ हो।

'पीन पयोधर दूबरि गता, मेरु उपजल कनक-लता।'

कठोरता का वर्णन तो हो गया पर पृथ्वीराज जैसा सांगोपांग विवेचन और यौवन की मादक मस्ती यहाँ कहाँ? बिहारी ने भी कुच को गिरि माना है।[1] पर न तो वह रसज्ञ-रंजना और न वह पूर्ण भावाभिव्यक्ति।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि 'कामण मत्तगयंद ज्यों ऊभी मुक्ख मरोड़' से घिरा रहने पर भी पृथ्वीराज श्रृंगार की अध्यात्म भावना को पहचान सका। इसीलिये उसके वय : संधि वर्णन में शैशव और यौवन की रंग रेली तो है पर वह प्रकृतिपरक उपमानों से विमंडित है[2] काम चिन्हों से अनुरंजित

१—कुच-गिरि चढ़ी, अति थकित ह्वै, चली डीठि मुंह चाड़।
फिरि न टरी, परियै रही, गिरी चिबुक की गाड़ ॥—बिहारी

२—'पृथ्वीराज रासो' में भी प्रकृति के उपमानों को लेकर वयःसंधिका सुन्दर वर्णन किया गया है—
"ज्यों करकादिक मकर मैं। रति दिवस संक्रांति।
यों जुब्बन सैसव समय। आनि सपत्तिय कांति ॥
यों सरिता अरू सिंधु संधि। मिलन दुहून हिलोर।
त्यों सैसव जल संधि में। जोवन प्रापत जोर ॥"

नहीं। शृंगार के साथ साथ वीर भावों को लपेटने वाले कवि तो कई हुए पर शृंगार और शील को साथ में रखकर चलने वाला कवि यह एक ही हुआ है, जिसके साथ चलने वाले यात्री शृंगार की उद्दाम मस्ती में मतवाले भी बनते हैं और शील की गंध से पवित्र भी। उसकी नायिका नवोढ़ा है पर लज्जा से लज्जित होने वाली, मुग्धा है पर शील की साड़ी लपेटे, युवती है पर 'बाल संघाती बालपण' के वियोग से बेचैन। कवि की नायिका रुकमण युगयुगों तक अपना सौन्दर्य अपनी सखियों के बीच उसी प्रकार बिखेरती रहेगी जैसे निर्मल आकाश में तारिकाओं के बीच चांद अपनी स्निग्ध ज्योत्स्ना-'उड़ीयण वीरज अम्ब हरि'।

डिंगल-काव्य में वीर और शृंगार रस का अद्भुत मेल

कविता का प्रमुख उद्देश्य रस की अनुभूति कराना है। साहित्य शास्त्रियों ने नव रसों का ऐसा रसायन आयोजित किया है जिसका पान कर पाठक या दर्शक लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करता है। डिंगल-साहित्य का प्रारम्भ से ही विशेष महत्व रहा है। हिन्दी के आदिकाल का बहुत कुछ स्वरूप तो उसी के द्वारा निर्धारित किया जाता है। डिंगल राजस्थान की भाषा है और राजस्थान की धरती वीरप्रसवा रही है। कर्नल टॉड के शब्दों में "There is not a petty state in Rajasthan that has not had its Thermopylae, and scarcely a city that has not produced is Leonidas" राजस्थानी कवि तलवार और तूलिका के धनी रहे हैं। राजस्थान माता की मूर्ति यदि बनाई जाए तो उसके एक हाथ में तलवार और दूसरे में वीणा देना ठीक होगा।[1]

डिंगल-भाषा स्वभाव से ही ओजप्रधान होने के कारण वीर रस के लिए विशेष उपयुक्त है पर यह नहीं माना जा सकता कि वह शृंगार रस के अनुपयुक्त है। पृथ्वीराज ने 'वेलि-क्रिसन रुकमणी' में शृङ्गार रस का सुन्दर वर्णन कर यह प्रमाणित कर दिया है कि डिंगल–भाषा जितनी वीर रस के अनुकूल है इतनी ही शृंगार रस के लिए उपयुक्त। यह सही है कि डिंगल-कविता का अधिकांश भाग वीर रस से ओत-प्रोत है। इसका कारण यही है कि ये कवि वीर-भूमि में पैदा हुए थे, वीरता के वातावरण में पले थे और स्वयं योद्धा थे। हिन्दी और संस्कृत की वीररसपूर्ण कविताएँ रणांगण की कटाकटी एवं कोलाहल से दूर किसी शान्त वातावरण में लिखी गई थीं, इसीलिए उनमें वह मूर्तिमत्ता और वास्तविकता नहीं है। केवल बाहरी हावभावों का वर्णन है, हृदयस्थ गम्भीरतम भावों का मनोविश्लेषण नहीं। डिंगल की वीर रस की कविता में एक विशेषता और भी पाई जाती है। संस्कृत के कवियों ने स्त्रियों को शृंगार रस के आश्रय-आलम्बन के रूप में ही विशेष करके ग्रहण किया है और वीररस के लिए अनुपयुक्त समझ कर उनकी बड़ी उपेक्षा की है। वे दिन रात अपने चरित्र-नायकों के पीछे ही लगे रहे और कभी एक क्षण के लिए भी

१—डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या—वीर सतसई

पीछे मुड़ कर यह न देखा कि युद्धार्थ गए हुए वीर नायक की अनुपस्थिति में उसकी वीरपत्नी की घर पर क्या दशा है? लेकिन डिंगल के कवि उन्हें न भूले।[1] यही कारण है कि डिंगल कवियों ने ऐसी कविताओं का सृजन किया जिनमें वीर और शृंगार दोनों रसों का अद्भुत मेल हो गया है।

वीर रस का स्थायी भाव उत्साह माना गया है। उत्साह को उत्तेजित करने में शृंगार रस के स्थायी भाव रति का भी विशेष हाथ रहता आया है। यही नहीं वीर गाथा काल में तो शृंगार-पक्ष की प्राप्ति के लिए ही वीर भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। संयोगिता के रूप पर मोहित होकर पृथ्वीराज ने रण भेरी बजाई। 'जाहि की बिटिया सुन्दर देखि, ताहि पै जाय धरे हथियार' के पीछे संभवतः यही दर्शन है। और इसी का फल है कि शृंगार और वीर दोनों रस हाथ से हाथ मिला कर बढ़े हैं।

चन्दबरदाई ने 'पृथ्वीराज रासो' के अन्तर्गत 'पद्मावती-समय' में इसकी झलक दी है। पद्मावती का रूप चित्रण—

"मनहुं कला ससि भान, कला सोलह सो बन्निय"
बाल बेस सति ता समीप, अम्रित रस पिन्निय"

कर गौरी और पृथ्वीराज के युद्ध का वर्णन किया है। दूत से सन्देशा सुनते ही पद्मावती इतनी प्रसन्न होती है कि कामदेव की सेना-सी सज जाती है :—

"सन्देस सुनत आनन्द नैन,
उमगोय बाल मनमथ्थ सैन।
तन चिटक चीर डार्यो उतारि,
मज्जन मयंक नव सत्त सिंगारि।
भूषन मंगाय नख- शिख अनूप,
सजि सैन मनौ मनमथ्थ भूप।"

सेना के सजने के मूल में वीर भावना काम कर रही है जिसका आधार प्रिय-मिलन है।

वीर और शृंगार रस को एक ही छन्द (कुण्डलिया) में गूँथने का कमाल दिखाया है ईसरदास बारहठ ने अपनी लोकप्रिय कृति 'हालाँझालाँ रा कुण्डलिया' में। इस कृति में हलवद-नरेश झाला रायसिह और धोल राज्य के ठाकुर हाला जसाजी का युद्ध वर्णन है। जसाजी की स्त्री झाला रायसिंह को कई प्रकार से सम्बोधित कर:

१—मोतीलाल मेनारिया—'डिंगल में वीररस'

"धीरा धीरा ठाकुराँ, गुम्मर कियाँ म जाह'
महुंगा देसी झुंपड़ां, जै घरि होसी नाह"

अपने पति के वीरत्वव्यंजक व्यक्तित्व का उद्घाटन करती है। यही नही वह स्वयं अपने पति को ललकारती है कि हे विकट और निश्शंक बोलने वाले अब नींद से उठ क्योंकि— 'घोडाँ पाखर धमधमी, सोधूँ राग हुवाह' और पति ने उठ कर ऐसा घमासान युद्ध किया कि पत्नी उसकी रक्त रंजित कलाइयों पर न्यौछावर होती है "केहरि मरूँ कलाइयाँ रुहिरज रत्तड़ियाँह" सिंह के केश, सर्प की मणि, बहादुरों के शरणागत, सती के स्तन और कृपाण का धन मरने पर ही हाथ लगाते हैं:—

"केहरि केस, भमंग मणि, सरणाई सुहड़ाँह
सती पयोहर, कृपण-धन, पड़सी हाथ मुवाँह"

नायक और नायिका जब क्रीड़ा करते थे तब नायक नायिका के कठोर कुचों का स्पर्श कर घबड़ा जाता था, पर मारु-बाजा बजते ही नायक ने रण क्षेत्र में प्रवेश किया वहाँ भालों के प्रहार, बाणों की बौछार और गजदन्तों की चोटें सहन करता-करता अपनी वीरता का प्रदर्शन करता रहा। नायिका ने फूल से कोमल नायक को रणोन्माद में वज्र से भी कठोर देखा तो वह कह उठी:—

"सेल घमोड़ा किम सह्या, किम सह्या गजदंत
कठिन पयोधर लागताँ, कसमसतौ तू कंत"

वीर और शृंगार से मिली-जुली ऊँची अनुभूति और क्या हो सकती है ? क्या इस कोटि का छन्द और किसी साहित्य में मिल सकेगा ? इस दोहे में उच्च कोटि का शृंगार है जो नायक को वीर भावों से विरत नहीं करता बल्कि उसके हाथों की तलवार को और उसके सीने को सौगुना अधिर बढ़ा देता है। यहाँ ऐसा अद्भुत वीरत्व भी है जो मादकता और विलासिता के घूंट पीकर भी गरल को पचाने की क्षमता रखता है। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति सूर्यमल्ल मिश्रण के निम्न दोहे में है:

"करड़ौ कुचनूं भाखता, पड़वा हंदी चोल
अब फूलां जिम आंग मैं, सैलां री घमरौल"

रूपकों के माध्यम से भी दोनों रसों की मिली-जुली अनुभूति ईसरदास ने कराई है:

"सिणगारी सलाह सूँ बिसकामणि बरियाम
वीर आई हाला वरण करण महा जुध काम,

काम संग्राम की हाम जुध कामणी
घणा नर जोवती भोमि आई घणी,
महाबल धवलरा साहि वरमाल तूँ
सबल घड़ कड़तलाँ घणा सलाह सूँ" ॥ २३ ॥

भावार्थः युद्ध के महान् कार्य करने वाले हे हाला (जसाजी) जिरह बख्तर से सुसज्जित (झाला रायसिंह की सेना रूपी) विष कन्या से, जो तुझ से विवाह करने आई है, ब्याह कर। युद्ध कार्य की इच्छुक सेना-रूपी यह कामिनी अनेक वीरों को देखती हुई तेरी भूमि पर पहुँची है । हे हर धोल के महाबली पुत्र ! झालाओं की जिरह बख्तर से बहुसज्जित सबल सेना रूपी विष कन्या की वर-माला को तू ग्रहण कर अर्थात् उसे हरा कर विजय वैजयन्ती पहन ।

—मोतीलाल मेनारिया

कितने वीर दर्प से परिपूर्ण भाव हैं। रणभूमि ही स्वयंवर के लिए रंगभूमि बन गई है। पुष्पवाटिका का कोमल प्रसंग यहाँ नहीं, यहाँ तो सिर देकर सौदा करने की होड़ है और इसीलिए पौरुषयुक्त दूल्हा जसा कुंवारो सेना रूपी कामिनी को ब्याहने के लिए युद्ध रूपी तोरण की ओर चल रहा है और भुजाओं पर सारी 'रिस्क' (Risk) उसने ले रखी है:

"चढि पोरिस वर सोह चढ़ि चढि रिण तोरणि चालि
कुँवारी घड़ कड़तलाँ भूँझ भार भुज झालि"

नायिका ने पति के सुन्दर कवच को देख कर चंवरी ही में जान लिया कि उस (पति) का सिर कट जाने पर भी धड़ लड़ता रहेगा और उसके प्रहारों से हाथी तक लुढ़केंगे पर वह मुश्किल से गिरेगाः

"मैं परणंती परखियौ सूरति पाक सनाह
धड़ि लड़िसी गुड़िसी गयंद, नीठि पड़ेसी नाह"

और अब तो नायक-नायिका का मिलन-अवसर आ रहा है । इतनी विक-लता है कि आवेग रुक नहीं सकता । कंचुकी के बन्धन अलग-अलग हो गए (करगि खग वाहतौ जुवा जूसण कसण) और वह यश तथा यौवन में मतवाला जसा सेना रूपी विष-कामिनी के साथ अंग से अंग मिलाकर महायुद्ध रूपी पलंग पर सो गयाः

"पिलंगि महारिण पौढियौ,
कालौ भलो कहाय

जस जोबण साजै जसौ,
मणिमथ फौज मल्हाय
मल्हौवण फौज बिसकामणि मानियौ,
इसौ दीठौ न करौ बींद अहवानियौ
अभंग जसवन्त जुधि,
काजि कीर अगोअंगी
पौढ़ियौ घड़ा पौढाय, चौरंगि-पिलंगि।"

कितना विराट् रूपक है सेना और कामिनी का। रीतिकालीन विलासिता इसकी पवित्रता को छू नहीं सकती, उच्छृंखल उन्माद वीर भावों को दबा नहीं सकता। यहाँ पति की मृत्यु पर (वियोग पर नहीं) निशदिन नैन नहीं बरसते, शरीर घड़ी का पेंडुलम नहीं बनता, अंगुलियों की मुद्रिका बाहों में नहीं आती बल्कि पग में मेंहदी का रंग लिए, हाथ में नारियल का मंगल लिए, अधरों पर मिलन की मुस्कान लिए, हृदय में प्रेम का आवेग लिए पत्नी-ज्वाला का शृंगार करती है, जीवन को जौहर दिखाती है और:

"सूरातन सूरां चढ़ै, सत सतियां समदोय।
आड़ी धारां उतरै, गणे अनल नूं तोय॥"

—बांकीदास

की भावना को चरितार्थ करती है। 'मार कर मरना सरल है, उसमें बदले का एक नशा होता है जो चारों ओर के खतरे को नहीं देखता और जो खून पीने को उतावला है पर हँसते-हँसते, अपनी इच्छा से, जल-जल कर मरना इसमें त्याग की सीमा है।[1]

राजस्थान की वीर पत्नी भी रीझती है पर 'मोर-मुकुट कटि-काछनी' पर नहीं, मुरली की मनोहर तान पर नहीं, फूलों से लदी सेज पर नहीं बल्कि उस पति पर जिसकी मूँछ हवा में फड़फड़ा रही है, और भालों पर सोता हुआ भी जो शत्रुओं को ललकार रहा है:

"मूँछां बाय फुरकिया, रसण झबूकै दंत।
सूतौ सैलां धौ करै, हूँ बलिहारी कंत॥"

सूर्यमल्ल मिश्रण ने अपनी राष्ट्रीय कृति 'वीर सतसई' में शृंगार-वीर भाव

१—रामनाथ 'सुमन'—वेदी के फूल

की ओजमयी धारा प्रवाहित की है। राजपूत महिला का पति रण-भूमि में गया है। इधर उसे पति की याद आ रही है पर वह नहीं चाहती कि वह भाग कर लौट आए। संयोग से वह देखती है कि उस का पति तो घर की ओर भाग आ रहा है। अब उसके दुःख का क्या कहना? कायर पति को वह सामने खड़ा देख कर कहती है:

"की घर आवे थें कियो, हणियां बलती हाय ।
धण थारे घण नेहड़ै, लीधो बेग बुलाय"

हाय घर आकर तुमने क्या किया? यदि मारे जाते तो मैं तुम्हारे साथ सती होती। इस पर पति कहता है—प्रिय! तुम्हारा प्रेमाधिक्य ही मुझे शीघ्र बुला लाया। पत्नी पति को चाहती है पर कायर पति को नहीं, ऐसे पति को नहीं जो युद्ध से भाग कर घर आ जाए। और अगर आ गया तो वह स्पष्ट कह देती है कि सिरहाने के लिए तकिया भले ही मिल जाए, पर पत्नी की भुजा तो फिर नहीं मिलेगी:

"कंत लखीजै दोहि कुल, नथी फिरंती छाँह
मुड़ियां मिलसी गीदंवौ, वले न धण री बाँह"

यही नहीं उसे तो अब ओछी कंचुकी (सौभाग्य चिह्न) में हाथ दिखाते हुए भी लज्जा आती है। और आश्चर्य होता है कि किस प्रकार उसके पति उन हाथों से शत्रु के आगे मुँह में तिनका लेते हैं जिन हाथों को वे उसके स्तनों पर रखते हैं। और वह फटकारती है कि अब तो बाल सफेद हो गए हैं जीने का क्या भरोसा

"कंत सुपेती देखतां, अब की जीवन आस
मो थण रहणै हाथ हूँ, घाते मुँहड़े घास"

इन वीर पत्नियों ने जहाँ कायर पतियों को फटकार दी है वहाँ वीर पतियों के घावों को सहलाया भी है। पत्नी ने हथेली पर के तलवार की मूठ के निशान को चुभन से जान लिया कि पति उसके चूड़े को नहीं लजाएँगे।[1] विवाहोपरान्त घर में प्रवेश करते समय ही नगाड़े की ध्वनि सुन कर दूल्हे ने दुलहिन के अञ्चलसे गाँठ छुड़ाली और अपने घोड़े की पीठ थपथपाई।[2] रति क्रीड़ा करते समय जो पति पत्नी की भुजाओं में ही समा जाता था वह आज इतना फूल गया है कि

---

[1] हथलेवे ही मूठ किए, हाथ विलग्गा माय।
लाखाँ बाताँ हेकलो, चूड़ौ मो न लजाय।

[2] बंध सुणायौ बीन्द नूँ, पेसंतां घर आय।
चञ्चल साम्हैं चालियौ, अञ्चल बन्ध छुड़ाय॥

कवच में भी नहीं समा रहा है ।[1] युद्ध में वीरता का प्रदर्शन कर पति घर आया है; युद्ध का अन्त नहीं हुआ है; पति विजय के लिए अधीर है। पत्नी ने बड़े धैर्य के साथ कुछ देर के लिए पति को सुलाया है । चकवी की चीख से कहीं वह जाग न जाए इसलिए पत्नी कहती है-हे चकवी ! इतनी क्यों चीखती है ? बहुद धैर्य दिलाने पर पति सोए हैं । सूर्योदय होने पर तू दो पहर अधिक सुख देख लेना । (क्योंकि मेरे पति का युद्ध देखने को सूर्य भगवान् दोपहर तक अपना रथ रोक लेंगे) ।[2]

रात को सोते समय भी वीर भावनाएँ उमड़ पड़ती हैं । ऐसा मालूम पड़ता है वीर रस के विभिन्न अवयवों से ही उनका शरीर बना था । उन्हें सपने भी ऐसे आते होंगे कि युद्ध हो रहा है, रणभेरियाँ बज रही हैं, हाथी चिघाड़ रहे हैं, तीरों की बौछार हो रही है और स्वप्न से जागते ही सचमुच वे तीर-कमान सँभाल कर, ढाल तूणीर बाँध कर रणक्षेत्र की ओर चल पड़ते ।

वात्सल्य एवं वीर रस का अद्भुत समन्वय भी डिंगल साहित्य की एक और विशेषता है । माता बच्चे को लोरी सुनाती है पर इसलिए नहीं कि 'मेरे लाल को आउरि निंदरिया' बल्कि इसलिए कि "चार खूंट चौखुंटी रे बाला, नोपतड़ी वमकाइज थूँ ।" वह अपने बच्चे को कजरी का दूध इसलिए नहीं पिलाती कि 'तेरी चोटी बढ़े' बल्कि इसलिए कि 'धोला दूध पै कायरता रो कालो दाग न लाइजै थूँ ।" वह बच्चे को पकवान और फल इसलिए नहीं खिलाती कि वह वजन में बहुत (overweight) बढ़ जाए बल्कि इसलिए कि "भारत माँ रो भार उतारजे, मत न भार बढ़ाइजे थूँ ।" वह बच्चे को झूले में झुलाती है पर इसलिए नहीं कि उसे नींद आ जाए बल्कि इसलिए कि "इतरी बार हिलाइजे रे धरती, जितरा झोला में थनैं द्यूं ।" और इस लोरी के साथ उसने बलिदान का पाठ पढ़ा था जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण था पिता के पहले पुत्र का बलिदानः

"बैठो जोड़े बापरे, बांध कसूंबल पेच
बेटो घर आयो नहीं, धोली बंधण हेत"

और अगर बच्चा छोटा है, उसे चलना नहीं आता, तो भी कोई बात नहीं क्षत्रियत्व इसके रग-रग में रम गया है । इसलिए बाप के कटने पर माँ के जलने पर वह; अंगूठा चूस-चूस कर घर की रखवाली करता है—

---

[1] हूं हेली अचरज कहूं, घर में बाथ समाय ।
हाकौ सुणतां हूलसै, मरणौ कौच न माय ।।

[2] धीर पिया सूतौ धणी, कुरले चकवी काय ।
देखीजै मुख दीहरै, सुख दौ जाम सिवाय ।।

"बाप कट्यो मायड़ बली, घर सूनो जाणीह
पूत अंगूठो चूंखनै, राखै निगराणीह"

डिंगल काव्य की परम्परा अब भी जीवित है । उदयपुर के श्री नाथूदान-महीयारीया ने 'वीर-सतसई' में शृंगार और वीर भावों की मिली-जुली अद्भुत धारा बहाई है। हाड़ी रानी की वीरता को दर्शाते हुए कवि ने लिखा है कि रानी ने स्वयं हाथ से सिर काट कर चूंड़ावत को भेज दिया। आँखों से एक भी आँसू की बूँद न गिरी। वह अंजन आँखों में ही रहा, बढ़ कर कपोलों पर नहीं आया—

"सीस पुगायो पीव कनै, थामो रंगतां कीच ।
कहियो पण बहियौ नहीं, काजल नैणाँ बीच"

रानी ने बलिदान के पहले आभूषण बाँट दिए। उन्हें स्वर्ग में साथ नहीं ले गई। धड़ के आभूषण रंगमहल में रह गए और सिर प्रियतम के पास :

"हाड़ी भूषण बाँटिया, सुरपुर लिया न साथ ।
धड़ रा रंग महलाँ दिया, सिर रा रावत हाथ" ।।

अन्य कवियो में 'श्री मुकुल' ने अपनी लोकप्रिय कविता 'सैनानी' द्वारा इसी परम्परा को निभाया है।

डिंगल-काव्य की यह अद्भुत मिली-जुली अनुभूति अपने आप में विशिष्ट है। शृङ्गार की कालिन्दजा और वीरता की सुरसरि के संगम पर इन कवियों ने ऐसे काव्य-तीर्थ का निर्माण किया है कि जिसमें अवगाहन करने पर हृदय पवित्र बनता है, मस्तिष्क जागृत होता है और संपूर्ण शरीर में एक साथ स्फूर्ति का संचार हो उठता है।

उठती हैं, लेकिन यह 'सतसई' की वधू तो जन्म जात रण-चण्डी है, पतिदेव की हथेली के तलवार की मूठ के निशानों का स्पर्श होते ही 'हथलेवै' के समय ही वह जान जाती है कि युद्ध में अकेले होने पर भी मेरे पति कभी भी मेरे चूड़े को न लजायेंगे। (चूड़ौ मो न लजाय)

आत्म-विश्वास की इतनी दृढ़ता, रङ्ग में रण विधान की यह वंचित्र्य कल्पना अन्यत्र कहां देखने को मिलेगी ? जगत्-जननी सीता केवल 'कंगन में नग की परछाई' निहार कर ही रह जाती है।

वीर क्षत्राणी नर के लिये प्रेरणा है। वह पति को रण जाते रोकने की कल्पना भी नहीं कर सकती प्रत्युत वह तो पति को रण में भेजने के लिये सदैव लालायित रहती है, जब वह देखती है कि उसके पति 'दमंगल बिण दुमनौ' रहते हैं और कवच की कड़ियां भी बन्द नहीं करते हैं तो वह सखी से कहती है कि "बधावौ त्यां भड़ां, जेथ जुड़ी जै कन्त।" (उन वीरों को प्रोत्साहन दो जो आकर प्रियतम से भिड़ सकें)—द्वार पर शत्रुओं के 'मैंगल' घूमते देखकर वह पति को जगाने के लिये कहती है कि "सपनो सिव सांचौ कियौ।" गौतम बुद्ध की परिस्थिति से बिल्कुल उल्टी परिस्थिति है। वहां गौतम यशोधरा को सोती हुई छोड़कर चले जाते हैं जब कि यहां स्वयं वीर ललना पति को जगाकर रण क्षेत्र में जान को प्रेरित करती है। यहां 'सखी वे मुझ से कहकर जाते' जैसी करुण पुकार को स्थान ही नहीं, कोई पश्चाताप नहीं, कोई विवशता नहीं, कोई अनुपात नहीं, क्यों कि वह तो स्वयं ही—

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में,
क्षात्र धर्म के नाते—"की

प्रत्यक्ष सजीव आदर्श मूर्ति है। जब वह देखती है कि युद्ध के नगाड़े-बज रहे हैं, शत्रुओं का दल उन्मत्त होकर गरज रहा है तो वह प्रेम की पुतली मदिरा की प्याली ढुलका देती है, और अदम्य साहस बटोरकर कह उठती है "नींदालु अब छोड़णा, भीड़ाणा कुच पीन।" उसे पूरा विश्वास है कि उसके पति को 'है चूड़ौं बल' क्यों कि उसने गजमुक्ताओं से पूजाकर पति को बिदा किया है। पति के विजयोल्लास में अपना उल्लास मिलाकर वह "कुमैत" पर बलिहारी जाती है, सिकलीगर की चतुरता पर अपने आपको न्यौछावर करती है क्योंकि उसने तलवार की धार को इतनी तेज की कि "रण झटकंतां कंत रे, लगै न झाटक एक।"

माता के रूप में क्षत्राणी का वीरत्व पग-पग पर दृष्टिगत होता है
उसका पुत्र आठ बरस का हुआ तो क्या हुआ उसे जो बालक समझते हैं वे भूल
करते हैं क्योंकि 'ऐथ घराणै सीहणी कंवर जणै सो काल'' (इस घराने में त
सिंहनी जिसे जन्म देती है वह काल रूप ही होता है)। वह तो स्वामी भत्ति
का अनन्य आदर्श ''चून सलूणी सेर ले, मोल समप्पै सीस'' के रूप में रखत
है। यह वीर माता गर्भ स्थित सन्तान को ही इतनी सच्ची, ठोस और वास्त
विक शिक्षा दे देती है कि सती होने के जन्म जात संस्कार 'जाचां हूंदै तापणै
हरखै धी दृग लाय'' (प्रसूति गृह में जच्चाएं जब अंगीठी के पास तापती
तो नवजात बच्ची आग की तरफ टकटकी लगाकर हर्षित होती है) औ
प्रसव होते ही बच्चा नाल काटने की छुरी की ओर झपट पड़ता है। क्षत्राण
का बच्चा सूर के बालक की भांति भंवरा-चकडोरी लेकर खेलने नहीं जात
गेंद का खेल उसे पसन्द नहीं, वह चमचमाती तलवारों से,तीरकमानों से आग व
खेल खेलता है जिसमें पसीने की जगह खून बहता है। वह माता से आक
शिकायत नहीं करता, अपने आप समस्या का समाधान कर देता है। और य
वीर ललना अपने पुत्र को 'कजरी' का दूध नहीं पिलाती, यशोदा की भां
उसकी इच्छा यह नहीं कि 'तेरी चोटी बढ़े' वह तो —उसे जहर पिलाती
क्योंकि वह जानती हैं कि प्रण पालन में—उसे लड़ते-लड़ते प्राणोत्सर्ग कर
होगा।

वह अपने पुत्र को झूला झुलाती है लेकिन इसलिए नहीं कि''मेरे ला
को आउरि निंदरियां'' बल्कि इसलिये कि वह जितनी बार अपने पुत्र
झटका दे उतनी ही बार वह इस धरती को भी हिलादे। वह अपने पुत्र
'सोवत जानि है मौन रहि-रहि' 'करि-करि सैन' नहीं बताती बल्कि वह
उसे सदा जागरूक रखना चाहती है। इसलिये उसका लाल न तो 'कबहुं पल
मूंदता है और न 'अधर' फरकाता है बल्कि वह तो समझ जाता है कि 'इ
न देणी आपणी' और इसलिये कभी भी अकुलाकर नहीं उठता। चाहे कित
ही बाधाएं आए फिर भीं वह क्षत्रिय-पुत्र तो काले नाग की भांति फन उ
कर समर भूमि की ओर चल पड़ता है, क्योंकि प्रसूति-काल के समय ही ब
हुए थाल को उसने आंख फुला-फुला कर देख लिया था। यही कारण है
वह कभी भी सूर के कृष्ण की भांति नहीं कहता 'मैया मैं न चरैहों गाइ।'

सूर्य मल्ल ने जिस नारी का चित्रण किया है वह वीर समाज के अनु
ही है। क्या हुआ यदि परिवार के लोग कहीं प्रीति-भोज में चले गये अ
अचानक आक्रमण हो गया? कोई परेशानी नहीं, कोई विकलता नहीं, सिंह

की सन्तान ने तलवार उठाकर अकेले ही डटकर शत्रु-सेना से लोहा लिया 'सीहण जाई सीहणी, लीधी तेग उठाय।' 'बिण नूं त्यारा पाहुणा' आ गये तो क्या हुआ, उनके आतिथ्य सत्कार के लिये भी तत्काल ही योजना बन गई कि ननद तो ढ़ाल तलवार लेकर ड्योढी पर खड़ी रहे और भाभी बन्दूक लेकर मेड़ी पर।

"भाभी डौढी हूँ खड़ी, लीधां खेटक रूक।
थे मनुहारो पाहुणां, मेड़ी झाल बन्दूक।"

ये वीर बालाएं शाश्वत सुहाग का वरदान लेकर पृथ्वी पर नहीं उतरीं। यह नहीं कहा जा सकता कि वे इतनी योग्य नहीं हैं या उनका पुण्योदय इतना बलवान नहीं है, बल्कि वे तो प्रारम्भ से ही जानती हैं कि उनका जीवन-सर्वस्व सदा तलवारों के साथ खेला करता है, रण-वाद्य के स्वरों में कंठ मिलाकर आत्म-साधना किया करता है, धारा-तीर्थ में स्नान कर पावनता का लेपन किया करता है फिर कैसे 'पांत में' परोसता हुआ वह किसी को भूल जाय, और अगर कभी अपनी सिद्धि तक पहुँचने में असफल होकर वह युद्ध में मारा भी जाय तो भी डर नहीं। वे तो अपनी शृंगार-मंजूषा में ही नारियल को सुरक्षित रखती हैं ताकि यथा समय बिना किसी विलम्ब के पति के साथ सती हो सकें। कितनी मिलन व्यग्रता, कितना आत्मीय स्नेह, कितनी दूर-दर्शिता। आज नारी भले ही क्रीम, पाउडर, इत्र-फुलेल और लिपिस्टिक से अपनी शृंगार मंजूषा सजाकर पति को रिझाने का प्रयत्न करे, पातिव्रत निभाने का दम्भ भरे पर क्या समर्पण की यह झांकी उसके लाल२ अधरों में मिल सकेगी? वीर-चरित्र की यह उज्ज्वलता उसके कजराने नैनों में झलक सकेगी? आत्म-दर्प की यह ज्वाला उसका सुकुमार तन सहन कर सकेगा? जब कि बिहारी की नायिका तो भूषण के भार से ही दबी जा रही है और तो क्या कहा जाय 'सूधे पांव न धर परत सोभा ही के भार।' वहां 'वीर सतसई' की नारी तो पति को यहां तक चेतावनी (Warning) दे देती है कि अगर वह युद्ध से भगकर आ गया तो उसे सिरहाने के लिए तकिया भले ही मिल जाय, प्रियतमा की भुजाएँ तो फिर कभी मिलने की नहीं।

'मुड़ियां मिलसी गींदवो, वले न धण री बांह'

कायरों को लेकर इन वीर रमणियों ने बहुत सुन्दर उक्तियां कही हैं। वह दर्जिन से कहती है कि अब तू मेरे लिए विधवा के योग्य लंबी कंचुकी लाया करना क्योंकि मेरे पति युद्ध से भागकर चले आये हैं। मनिहारिन से कहती है अब तू इस मकान पर मत आना। मेरा तो मरण ही हो गया 'पीव मुवा घर आविया' फिर 'विधवा किसा बणाव' (विधवाओं के लिए

श्रृंगार कैसा ?) कितना चुभता व्यंग्य, कितना नैराश्य और अवसाद, कितना धैर्य और संयम ! शेक्सपियर की यह भावना "Cowards die many a time before their deaths. The valiant never taste of death but once." नारी के रग रग में व्याप्त सी प्रतीत होती है तभी तो वह श्रृंगार-प्रसाधनों को लात मारकर मरण त्यौहार मनाने को उद्यत हो जाती है । और कह उठती है 'पग पग चूड़ी पाछट्' जो रावत री जाय' । यह नहीं कि वह शेक्सपियर-के Macbeth की तरह विवश होकर केवल इतना कह सके "I have no spur to prick the sides of my intent, but only vaulting ambition" बल्कि पुकार उठती है 'सजनि मरण को वरण करो री' । उसकी सास के आनन्द का पार नहीं क्योंकि आज उसकी पुत्रवधू सती होने जा रही है और उसका पुत्र युद्ध भूमि में प्राण न्यौछावर करने के लिये प्रमाण कर रहा है' बहू बलेबा हूलसै पूत मरेवा जाय' । सती होने के लिए इन ललनाओं में कितनी व्यग्रता है । झरोखे में खड़ी हुई पत्नी ने ज्योंहि देखा कि शत्रुओं का दल प्रबल है, पति के देह-पात का संवाद सुने बिना ही उसका मरण अवश्यंभावी जानकर हाथ में नारियल लेकर सतो होने के लिए तैयार हो गई ।

"ऊभी गोरव अवेखियौ, पैलां रौ दल सेर ।
पड़ियौ धव सुणियौ-नहीं, लीधौ धण नालेर ।।"

यहाँ मीरां को तरह 'ऊभी पंथ निहारु' जैसी मिलन की भावना नहीं है, वह तो नाइन से भी यही कहती है कि आज मेरे पैर में महावर मत लगा, कल युद्ध में यदि पति धारा-तीर्थ में स्नान करें तो फिर खूब रंग देना 'धारां लागीजै धणी तो दीजै धण रंग' केवल सती होने के लिए श्रृंगार करना चाहती है । यह वीर नारी कोई दब्बू-दासत्व में पली हुई स्त्री नहीं है । 'पति के गुणों के वशीभूत हुई सीता के रूप में वह प्रकट नहीं हुई है, उसके स्वतंत्र तेज की ज्वाला द्रौपदी की तेजस्विता की भी याद दिलाती है । ' चितारोहण के बाद स्वर्ग में पहुंचने पर अपने पति को अप्सरा के साथ देख-कर वह अप्सरा पर पिल पड़ती है 'पगली अप्सरा । सूने पतियों को अपनाकर घमण्ड मत कर । क्यों यों ही स्वर्ग बसाया जाता है । शूरवीर कौन होता है इसकी परख तो केवल सती स्त्री को ही है जो उसे प्राप्त करने के लिए अग्नि-स्नान करके स्वर्ग में पहुंचती है ।' 'काली अच्छर छक म कर, सूना धव अपणाय । सूर किसौ परखै सती, बोली सुरग बसाय ।।'

आज कितनी ऐसी वीर नारियाँ हैं जो अप्सरा को तो क्या सामान्य स्त्री

को भी ऐसी फटकार दे सकें और अपना जन्म–जन्मान्तर परिणय निभा सकें। सूर की गोपियाँ भी 'मुरली तऊ गोपालहिं भावति' कहकर ही ठिठक जाती हैं। 'वीरसतसई' की वीर नारी घनानन्द का 'धरणि धंसौं कि अकासहिं चीरों' का आदर्श लेकर स्वर्ग में भी पहुंच जाती हैं और अपने पति से कह उठती हैं कि 'हे कंत। मृत्यु लोक में आप कहा करते थे कि सती होने से ही अपना साथ स्वर्ग में बना रहेगा। मैं स्वर्गलोक में आ ही रही थी कि आपने यह क्या कर लिया ? इस अप्सरा का अंचल छोड़ो जिससे मैं आपका हाथ पकड़ सकूं। 'छोड़ो अच्छर छेहड़ो सो धरण झालै हाथ।' महादेवी की तरह वह यह नहीं पूछती कि- 'क्या अमरों का लोक मिलेगा ?' मिलन के लिए वह 'नैन कौड़िया होइ रहे' का स्वांग नहीं रचती, 'हाड़ भए सब किंगरी, नसैं भई सब तांति' जैसी दशा बनाने का उसे अवसर ही नहीं मिलता, 'सुरत निरत का दिवला संजोकर त्रिकुटी महल में झांकी लगाने का उसने अभ्यास ही नहीं किया, 'पाना ज्यू पीली पड़ने, की उसकी जिज्ञासा ही नहीं, 'कनगुरिया कैं मुंदरी कंकन होई' की भावना ही नहीं, 'मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूं' की कल्पना भी नहीं, क्योंकि उसने अंगार से शृंगार करना सीख लिया है, तरल ज्वाला से प्याला भरने का अभ्यास उसने कर लिया है, आग में जलते हुए 'बारी धण गल बांह में, भोड़ौ नाह नचीत' का रहस्य उसने समझ लिया है। इसीलिए उसे बुढापे में भी यही डर लगा रहता है कि कहीं मेरे स्तनों पर रहने वाले हाथों से मेरे पति शत्रु के समक्ष याचना न करलें।

'मो थण रहणे हाथ हूं घाले मुंहड़े घास'

राजस्थानी वीर प्राणों को हथेली पर लेकर चलते आये हैं। स्वामिभक्ति की यह भावना किसी विकृत बुद्धि की उपज नहीं कही जा सकती, वीरत्व का यह अदम्य साहस क्षणिक जोश नहीं कहा जा सकता, मर मिटने की यह अमित पिपासा सांसारिक लालसा नहीं कही जा सकती, यह तो अपने आप में एक महान साधना थी, निष्काम तपस्या थी, जिसमें मदमाता यौवन होमा गया, अतृप्त सौन्दर्य में झुमती हुई वीर बालाओं की रति शैय्या पर आने की प्रतीक्षा की आहुति दी गई। रमणियों का मादक यौवन साधना का मण्डप बन गया, करुणा और वीरत्व का यज्ञ–कुंड बन गया, काम पर धर्म की विजय का प्रतीक बन गया—

"किण दिन देखूं बाटड़ी, आतां पड़वै तूझ।
घाव भरंताँ आवगौ, बीत्यौ जौबन मूझ॥"

अधरों पर ज्वाला की मुस्कान लेकर, हृदय में विस्फोटक व्यक्तित्व की

राजस्थानी लोकगीत

लोकगीत हृदय की निश्छल अभिव्यक्ति का माध्यम :

कला आत्मा की आनन्दात्मक अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति ललित कला द्वारा जीवन में सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की प्रतिष्ठा करती है। चित्रकारों ने तूलिका द्वारा जीवन के विविध दृश्य चित्रित किये, गायकों ने नाद के प्रभाव से मानव हृदय के सूक्ष्मतम तारों को झंकृत किया, कवियों ने शब्दों में अन्तर को मथने वाली भावनाओं को बांधकर रस-सृष्टि की पर लोकगीतकारों ने संगीत की स्वर-लहरी में जीवन के सुख-दुख, राग-विराग, आस्था-अनास्था, को पिघला कर ऐसा रस-वर्षण किया कि उसके मधुर प्रवाह में व्यक्ति का अंह घुल कर समाज की भाव-धारा के साथ एकमेक हो गया। साहित्यिक गीतकार जब अपनी भावनाओं को व्यक्त करता है तब वह अपनी सामाजिक स्थिति, वैयक्तिक मान्यता और आस पास के परिवेश से बंधा रहता है। उसमें दुराव होता है, संकोच होता है पर लोकगीतकार इन सब मर्यादाओं (बन्धनों) से निर्मुक्त होकर मानव जीवन की ऐसी सार्वकालिक एवं सार्वभौम अभिव्यक्ति करता है कि उसकी निश्छलता को कोई छल नहीं सकता। जो नारी अपनी कड़वी-मीठी बात लोक-लज्जा और सामाजिक स्थिति के कारण कभी खुलकर कह नहीं सकती वह लोकगीतों में इतनी खुली है कि उसका कोई मुकाबला नहीं। उसने अपनी बात को विभिन्न स्वरों और रूपों में गा गाकर कहा है। सब को सुनाया है एकान्त में नहीं, समाजोत्सवों में। यही उसकी महानता है।

लोकगीत की परम्परा और महत्ता :

लोकगीत की परम्परा उतनी ही पुरानी है जितनी मानव संस्कृति। गुफाओं में जीवन व्यापन करने वाले मानव में जब थोड़ी-बहुत बुद्धि का विकास हुआ तब उसने विकसित होती हुई भावनाओं को व्यक्त करने के लिए विकृत आलाप लेना आरम्भ किया। यही आदि-मानव का आदि संगीत पेरी के शब्दों में लोकगीत है। ग्रिम के अनुसार लोक-गीत अपने आप बनते हैं। 'वह न पुराना होता है न नया। वह तो जंगल के एक वृक्ष के समान होता है, जिसकी जड़ें तो धरती में दूर तक (भूतकाल में) धंसी हुई होती हैं, किन्तु जिसमें नित्य नई-नई डालियाँ, पल्लव और फूल लगते रहते हैं।[1] गीतों का भण्डार अनन्त है।

---

१. मि० आर० वी० विलियम्स

वेदों तक में 'गाथित' शब्द 'गाने वाले' के लिए प्रयुक्त हुआ है 'वाल्मीकि रामायण,' 'श्रीमद्भागवतगीता' आदि प्राचीन ग्रंथों में भी गाथाओं (गीतों) की परम्परा के सूत्र मिलते हैं। नैषध-चरित्र में हर्ष ने भी स्त्रियों के द्वारा गाये जाने वाले गीतों के विषय में लिखा है। तुलसीदास जी भी अपने 'रामचरित मानस' में कहते हैं :—

'चली संग लइ सखी सयानी।
गावत गीत मनोहर बानी।'

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लोकगीतों को ग्राम-गीत कहा है। उनके अनुसार इन गीतों में आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में जो सभ्यता प्रचलित थी उसका मूल रूप सुरक्षित है। आर्यों ने राजनैतिक रूप में तो भारतवर्ष पर विजय प्राप्त की थी पर सांस्कृतिक रूप में वे यहाँ के मूल निवासियों द्वारा प्रभावित हुए। ग्रामगीत इसी सभ्यता के वेद हैं। हमारी सभ्यता ने कई रूप देखे। इस्लाम और आंग्ल सभ्यता के निकट सम्पर्क में भी वह आई, उससे प्रभावित भी हुई। हमारा साहित्यिक आन्दोलन उससे प्रभाव ग्रहण कर आगे भी बढ़ा पर ये लोक गीत अब भी अपनी मूल सांस्कृतिक थाती संभाले हुए हैं न इनमें जीर्णता आई न मृत्यु। ये नित नवीन हैं क्योंकि 'इनमें धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदियां गाती हैं, फसलें गाती हैं, उत्सव और मेले, ऋतुएं और परम्पराएँ गाती हैं।[1] इनमें हमारे देश का सच्चा इतिहास, उसका नैतिक और सामाजिक आदर्श सुरक्षित है। द्विवेजी ने तो यहाँ तक कहने की हिम्मत की है कि इनका महत्व मोहनजोदड़ों से भी अधिक है। मोहनजोदड़ों सरीखे भग्न-स्तूप तो इनके (ग्रामगीतों के) भाष्य का काम दे सकते हैं। आधुनिक युग में आकर इन गीतों ने राष्ट्रीयता, फैशनप्रियता, और सामाजिक विकृति का भी चोला पहन लिया है। युगीन मान्यताओं के अनुसार ये श्वास-प्रश्वास ग्रहण करते रहें हैं।

लोकगीतों का वर्गीकरण :

राजस्थानी लोकगीतों को सामान्यतः निम्नलिखित वर्गों में बांटा जा सकता है :—

(१) बालक-बालिकाओं के गीत :

ये गीत सामान्यतः खेलकूद से सम्बन्ध रखते हैं—घुड़ल्या, सल्ला, हिरणी, डेंडक माता, संझा आदि के गीत।

---

१. महात्मा गांधी

(२) स्त्रियों के गीत :

इनको चार उपवर्गों में बांटा जा सकता है :—

(क) जन्म–संस्कार सम्बन्धी :– आगरणी, घूघरी, पगल्या, बधावा, सूरज-पूजा, जलमा-पूजन, मुण्डन, लोरियां, उपनयन संस्कार आदि के गीत ।

(ख) विवाह–संस्कार सम्बन्धी :—वर-वधू की खोज, सगाई, चाक नोतना, बधावा, हल्दी, नृत्यगीत, उकड्डीपूजा, रातिजगा, मामेरा, घोड़ी, बना, सेवरा, बर निकासी, तोरण, हथलेवा, कंवर कलेवा, जीमणवार, बिदाई, डोरा-कांकण, पारसी, दोहे आदि ।

(ग) व्रत–भजन सम्बन्धी :—प्रभाती, गंगाजी, चन्द्रसखी के भजन, ओखा-बाबजी, शीतला माता, लालबाई फूलबाई, राम–कृष्ण–शिव–सत्यनारायण के गीत, कार्तिक मास के गीत आदि ।

(घ) ऋतु-पर्व सम्बन्धी :—उद्यान गीत, होली, रसिया, फाग, सावन के गीत, हिंडोला, हरियाली, तीज, गणगौर,आदि ।

३) पुरुषों के गीत :

कृषि-गीत, हीड़, ग्यारस, तेज्या, धोल्या, नागजी, निहालदे, फाग, जोगीडा, नायों के गीत, रामदेवजी, पाबूजी, डूंगजी, जवारजी, पन्यीड़ा आदि के गीत ।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक भेद किये जा सकते हैं । पर यह सत्य है कि जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव-जीवन के विभिन्न संस्कार, लोकाचार, और विधि-विधान इन गीतों में गूंथे गये हैं । जब कभी प्रसन्नता के क्षण आये, लोक गीतों ने उछलते-कूदते उन्हें व्यक्त किया, जब कभी मलिनता की घटाएं उमड़ी लोकगीतों ने गरज-गरज कर उन्हें बरसाया और जब कभी जीवन खतरे में पड़ा लोकगीतों ने साथ रह–रहकर उसे उबारा । ये मानव हृदय के अनन्त संगी रहे हैं । इन्होंने उसकी भूख मिटाई है, प्यास बुझाई है, श्रम का परिहार किया है, भय का बहिष्कार किया है । मानव रोया है इनकी गोदी में, हँसा है इनके आंगन में, बढ़ा है इनके लहलहाते खेतों में ।

लोकगीतों का भाव-सौन्दर्य :

लोकगीत शक्ति, शील और सौन्दर्य के अटूट स्त्रोत हैं । राजस्थान त्याग, बलिदान और समर्पण का रण–स्थल रहा है तो प्रेम, करुणा और ममता का रंगस्थल भी । यहां का साहित्यकार एक हाथ में तलवार और दूसरे में वीणा लेकर आगे बढ़ा है । यहाँ के लोकगीतों में भी वीरत्व को फड़काने वाली

स्फीत फूत्कार है, ममत्व को गुदगुदाने वाली मादक मनुहार है और हृदय को विदग्ध करने वाली करुण--कातर पुकार है। लोकगीतों में सबसे अधिक गीत प्रेम से भीगे हुए हैं। उससे कम शान्त-रस से आपूर्ण हैं तो वीर- रस से ऊर्जस्वित।

प्रेम का जितना निश्छल उद्रेक परिवार में होता है उतना शायद अन्यत्र नहीं। पारिवारिक विभिन्न सम्बन्धों को लेकर सुन्दर भावप्रवण लोकगीत रचे गये है। वर्षाऋतु में गाया जाने वाला 'पीपली' गीत नारी हृदय की प्रेम-भावना का निचोड़ है। पति नौकरी के लिए परदेश जा रहा है। पत्नी अकेली कैसे रह सकती है? वह अपने फले-फूले यौवन का स्मरण दिलाने के लिए स्वयं पीपली बन गई है — 'हे प्रियतम! जिस पीपली को आपने बोई थी वह अब घेर घुमेर (हरी भरी) हो गई है, उसकी छाया का आनन्द लेने का समय आया कि आप नौकरी पर चल पड़े। हमारी लाल नणद के भाई! मुझ पिया की प्यारी को भी अपने साथ ले चलो —

'बाय चाल्या छा भंवरजी पीपलीजो,
हांजी ढोला हो गई घेर घुमेर,
बैठन की रुत चाल्या चाकरीजो,
एजी म्हारी लाल नणद रा ओ वीर,
पिया की पियारी ने सागे ले चलो जी।'

वह साथ इसलिए जाना चाहती हैं कि आर्थिक संकट पड़ने पर पति के लिए सोने की मोहर बन जाय, भूख लगने पर सरस जलेबी बन जाय, धूप लगने पर छायादार बदली बन जाय, नींद आने पर सुखद सेज बन जाय, प्यास लगने पर मीठे पानी की कुई बन जाय और तो और उसके (पति) साथ चलने के लिए रथ का बैल बन जाय या मक्खी की तरह उससे ही चिपक जाय —

माखी होकर भंवरजी चिप चलूँजी
हांजी ढोला बन ज्याऊं रुणझुण बैल
हारया थाक्योड़ा मारूजी जोतलोजी
एजी म्हारा पियाजी ने पलक न आय
पिया की प्यारी ने सागै ले चलोजी।

कितनी समर्पण की भावना, कितना तादात्म्य? विलास की गंध नहीं, वासना की छाया नहीं, काम की पिपासा नहीं! शुद्ध आत्म-समर्पण।

पगल्या में थारे बांधू रे घूघरा,
गला में हार पेराऊं म्हारा कागा—जद म्हारा…
आँगलियाँ में थारे अंगूठी कराऊं,
चांदी रा पांख लगाऊं म्हारा कागा—जद म्हारा….

वह अपने प्रिय के लिए सब कुछ कर सकती है।

आखिर उसका प्रियतम आया। कभी 'पनिहारिन' के रूप में उससे विचित्र भेंट हुई। कभी सुदूर युद्ध–क्षेत्र से लौटता हुआ प्रवासी पति अपने वीर सैनिकों के साथ नजर आया। रंग–बिरंगी पगड़ियां दिखाई दीं —

आयो आयो मेवाड़ा रो साथ,
आधो कसूमल ने आधो केसरिया।

विस्तृत मैदान में किरणों से भाले चमक उठे, नक्कारे की आवाज सुनाई दी :—

छापर भलक्या छैं सैल,
घाटी रो नगारो मैं सुण्यो जी राज।

घोड़ों की टापें और हाथियों के गले में बंधी टोकरें झनझना उठीं —

घोड़ला री बाजी खुरताल,
हसथ्यां रा बाज्या वीर घंट टोकरा।

स्वागत की तैयारियां शुरू हुई। घोड़ों के लिए छायादार स्थान, हाथियों के लिए चौक तथा ऊंटों के लिए मुलायम रेत बिछा दी गई। और संयोग के क्षणों की सुनहली कल्पना साकार हो उतर आई। केशर और कुंकुंम का बना हुआ महल, उसमें कांच जड़ित आंगन–पति का प्रतिबिम्ब मानों किरणों में कोई सूर्य उदय हुआ हो, 'जाणै कांई किरण में सूरज ऊगियो' और पत्नी की छाया मानों बिजली चमकी हो, 'जांणै कोई आभा में चमकी बीजली जीं।'

विरह में पत्नी जितनी व्यथित है मिलन में उतनी ही उत्फुल्ल। संयोग श्रृंगार में मान, मनुहार, सौतिया डाह, फरमाइश आदि के सजीव चित्र देखने को मिलते हैं। पत्नी ने कई बार मांगें रखी पर हर बार पति उन्हें ठुकराता गया। आज पत्नी ने साफ जबाब दे दिया 'पालो कोनी काढू सा' हार कर पति को जोधपुर से चूंदड़ी, बूंदी से फूंदी और कोटा से गोटा लाने की स्वीकृति देनी पड़ी। यदि वह स्वीकृति न देता तो उसका संघर्ष आगे बढ़ता वह पूर्ण रूप से असहयोग कर देती–न तो बार बार खटखटाने पर किंवाड़ खोलती, न पलंग पर सोती—पत्नी का 'अल्टीमेटम' देखिये —

'जो नहीं लावोला तो बालम तुरत रोष हो जासूं
पिलंगां पर पग धरूं नहीं मैं धरत्या ही सो जासूं ।'

सामन्ती वर्ग में बहुविवाह की प्रथा थी। सौतियां-डाह का वर्णन इसी संदर्भ मे मिलता है। छोटी बहू गले की हंसली, हाथों में पहिनने की चूड़ी. साड़ी तथा कड़ियों की मांग करती है पर बड़ी बहू कभी ओलों के कारण फसल खराब होने की, कभी देवर की शादी करने की तो कभी पति के बीमार होने की बात कहकर उसकी मांगें यों ही टालती रहती है—

ल्होड़ीजी केवे छै म्हारे सालुड़ो मोलाय दो
बड़ोड़ी केवे छै म्हारे गड़ा पड़ग्या,
डोल्यां रा खेत पड़त रेईग्या,
म्हारे अबरके तो देवरजी कुंवारा रेईग्या

आखिर छोटी बहू अत्यन्त उदास हो जाती है और अलग होने की बात कह बैठती है।

सास-बहू के पारस्परिक प्रेम और झगड़ों को लेकर भी कई गीत प्रचलित हैं। 'सहेल्यां ऐ आम्बो मोरियो' गीत वधू के आदर्श का जीता-जागता चित्र है। राजस्थानी वधू की आभूषणों के प्रति कोई आसक्ति नहीं (सासू गहणै नै कांई पूछो) उसके लिये तो सारा परिवार ही गहना है .गहणो ओ म्हारो सै परिवार) ससुर राजा हैं, सास रत्नों की भण्डार। जेठ उसके बाजूबंद हैं तो जेठाणी उसकी लूंब। देवर हाथीदांत का चूड़ला है तो देराणी उस चूड़ले की मजीठ। नणद कसूमल कांचली है तो नणदोई गजमोतियों का हार। पुत्र घर का चांनणा (कुल का प्रकाश) है तो पुत्र-वधू दीपक की लौ। पुत्री हाथ की मूंदडो है तो जमाई चंपे का फूल। उसका पति उसके सिर का सेवरा (मुकुट) है तो वह पति के सेज की सिणगार —

म्हारा सुसरोजी गढ़रा राजवी,
सासूजी म्हारा रतन भंडार,
म्हारा जेठजी बाजूबंद बांकड़ा,
जेठाणी म्हारी बाजूबंद री लूम।
म्हारो देवर चुड़लो दांत रो,
देराणी म्हारी चुड़ले री मजीठ।
म्हारो कंवर घर रो चानणो,
कुल बहू अे दिवले री जोत,

म्हांरी धीयज हाथ री मूंदड़ा
जंवाई म्हारे चंपली रो फ़ल।
म्हांरी नणद कसूमल कांचली,
नणदोई म्हारे गजमोत्यां रो हार,
म्हारो सायब सिर रो सेवरो,
सायबजी म्हे तो सेजांरी सिणगार।

सासू जब जरा-जरा सी बात पर बहू की नुक्ताचीनी करने लग जाती है तो वह परिवार में शांति बनाये रखने के लिए घर से अलग होने की बात कहती हैं। इस कथन में बहू का सौम्य और संतोषशील रूप प्रकट हुआ है वह धन लोभी और झगड़ालू चित्रित नहीं हुई है वह बड़े संयम से कहती है, 'सासूजी मेरी बाड़ी के करेले मत तोड़ो (परिवार की शांति मत खतम करो) चाहे मुझ बोलना छोड़ दो, मुझे घर से अलग कर दो। न मुझे पलंग की आवश्यकता है न रजाई की, न खेत-कुए की जरूरत है न लम्बे मकान की। मुझे तो पीहर से दहेज में मिली हुई चीजें और ससुरजी के रहने का कमरा ही बहुत है :—

म्हारी बाड़ी रा करेला मति तोड़ो रसिया,
मति बोलो ओ सास अलग कर दो।
मैं तो ढोल्यो नी मांगू मैं तो सीरक नी मांगू,
म्हारा पियरिया रो खाट मनैं अरो बगसो।
मैं तो खेत नी मांगू मैं ती कूड़ा नी मांगू,
म्हारा सुसराजी रो पाटी म्हारे कूंतो कर दो।
मैं तो मेड़ी नी मांगू मैं तो ओवरिया नी मांगू,
म्हारा सुसरा जी रो ओबरो अरो बगसो।

अलग होकर भी पत्नी का ससुराल, पीहर और ननिहाल से अत्यन्त प्रेम है। उसकी उपेक्षा का पात्र यदि कोई है तो उसकी सौत जिसे वह देखना तक नहीं चाहती। पत्नी के लिए कुंचुकी सिलाई जा रही है। दर्जी से वह कहती है-हे दर्जी वक्षस्थल पर रहने वाले भाग पर तू रसिक पति का चित्र उतार, बगल के पास ननिहाल के व्यक्तियों को और दोनों बाहों पर ससुराल तथा पीहर के परिवार को चित्रित कर। सौत को पीठ पीछे बांधी जाने वाली कशों में सी दे :—

टूंकियां पै लिख मोजी सायबो,
खड्या पै मांय मौसाल।
बाहां पै लिख पियर सासरो,
कसणां में सीव लौडो सोक।

कितनी सुन्दर भावना है! पारिवारिक सदस्यों के चित्रों को वह किसी कमरे में नहीं लटकाना चाहती बल्कि अपनी कंचुकी को ही वह ऐसी चित्रशाला बना देना चाहती है जिसमें सभी को वह नित्य जब चाहे तब और जिस जगह चाहे वहीं देख सके। कितना नैकट्य और माहत्र्य। परिवार को ही परिधान बना लिया है राजस्थानी इस वधू ने और सौत को कस दिया है कंचुकी की कसों से ताकि वह तड़प २ कर प्रायश्चित कर ले।

राजस्थानी नर-नारियों का प्रेम वीरता की गोदी में ही खेला-कूदा है। यहां प्रेम ने वीरत्व को सुलाया नहीं वरन् जाग्रत किया है। वीर-रस से परिपूर्ण ये लोक-गीत भुजा फड़काने वाले हैं। मुंडन-संस्कार के समय बच्चे में झूझारजी की शक्ति संचरित होने की कामना की गई है। उनका युद्ध-वीर का व्यक्तित्व देखिये :—

झूझारजी वागो तो सोवे राज ने केसरियाँ,
सोवनड़ी छे तरवार,
झूझारजी बाग पकड़ घोड़े चढ़िया।

शत्रु से जा भिड़ा यह वीर अभिमन्यु। मरुस्थल के रेतीले मैदान में भाले चला रहा है और बर्छियों से शत्रु का दिल दहला रहा है —

सूरा भाला राल्या जी बालु रेत में।
सूरा बरछियां री बाजी घमरोल।।

बस फिर क्या था-झाड़ी-झाड़ी में शत्रुओं की देवलियां (समाधियां) बन गई "सूरा झाड्यां वेईगी देवलियां।"

यहां की नारियों (सतियों) ने मुस्कराते हुए अंगार का शृंगार किया है। जो नारी दूध ठंडा करते समय दूध के गिर जाने मात्र से जल उठती है वह अग्नि में प्रवेश कैसे करेगी ;—

दूध सीलावत दाझिया,
बायां! कूंकर डोवोली आग?

सीधा सा उत्तर है जैसे मछली पानी में तैरती है ;—

ज्यूं जल डोयो माछली,
ज्यूं बायां ! ज्यूं ई डोवुंलो आग ।

राजस्थान में वर्षा कम होती है । बिलम्ब से भी होती है । बालिकाएं गोबर की डेंडक (मेढ़की) माता बनाकर घर घर घूमती हैं । प्रत्येक घर वाला डेंडक माता को पानी पिलाता है । इस खेल ही खेल में बालिकाएं वर्षा के इन्द्र से शीघ्र ही बरसने की प्रार्थना करती हैं :—

डेंडक माता, डेंडक माता,
धोबो धोबो धान गलाब,
डेंडकी ने पानी पाव,
इन्दर राजा वेगो आव,
धोरी मक्की रा कोठा भराव,
खाड़ा नाड़ा पूर भराव !

ताकि मक्की से कोठे भर जांय और नद-नाले बह चलें ! निष्कपट हृदय वाले इन बच्चों की बात इन्दर ने सुन ली । वर्षा बरस गई, धान के खेत लहलहा उठे । सामूहिक कटाई शुरू हो गई । सबमें प्रतिस्पर्धा । जो ज्यादा कटाई करेगा उसे नारियल मिलेगा पर नारियल कोई नहीं चाहता । हर व्यक्ति चाहता है कि नारियल उसके साथी को ही मिले । नारियल ठेठ नागौर का है, चोटी उसकी बीकानेर की है, सांगानेर का सालू है उसका, कच्ची गिरी है उसकी, खेत के उस किनारे पर रखा है –वहां जाने ही से मिलेगा—

लेवो भिड़ीजी नालेरो, नालेरो नागौर रो
चोटी बीकानेर री, सालू सांगानेर रो,
पेलै छेड़ै नालेरो, काची गिरियां नालेरो,
लंबी चोटी नालेरो ।

एक साथी ने अपने स्वार्थ को दूसरे के लिए समर्पित कर दिया है । पति-पत्नी में भी यह सहयोग-भावना है । पत्नी 'कड़ब काटने' में अपने सौन्दर्य को खिलता हुआ देखती है । वह पति से कहती है–'तुम भी जवान हो' मैं भी जवान हूं । दोनों की बड़ी सुन्दर जोड़ी है । काम करने से इस जोड़ी की सुन्दरता और भी बढ़ेगी —

कड़बी काटेनी मोटियार,
थूं म्हारी जोड़ी रो जवान,
जोड़ी जुत जा रै जवांन ।

देवर–भाभी ने भी प्रतियोगिता की हैं। भाभी की चुनौती है–'देवर लाला ! आने दो अपनी पूरी ताकत से हंसिया। मैं भी देखूं जरा तुम्हारे दूध की ताकत ! मेरी सास के लाड़ले, आने दो अपनी पूरी ताकत से हंसिया। देखूं तो जरा सास के दूध की ताकत –

> दैवर नै भौजाई, बाबल, बावो नी दांतलियो,
> दूधां रा पियाकड़, देवरजी, आवण दो दांतलियो,
> छाछां री पियाकड़, भावज, आवण दे दांतलियो,
> सासू रा चूंग्योड़ा देवर, आवण दो दांतलियो।

देवर दूध पीने वाला है, भावज छाछ पीने वाली है। छाछ और दूध का जोर किस ढंग से तोला जा रहा है ?

इस प्रकार राजस्थानी लोकगीतों में प्रेम, करुणा, वीरता आदि के शत-शत सुन्दर चित्र उतारे गये हैं। ये चित्र वास्तविक और हृदय को प्रभावित करने वाले हैं। इनका रंग इतना गहरा है कि ये काल की आंधी और वर्षा से कभी न धुलेंगे वरन और भी निखार पाते रहेंगे। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कथन सही है कि "लोक–गीत की एक एक बहू के चित्रण पर रीतिकाल की सौ-सौ मुग्धाएं, खण्डिताएं, और धीराएं न्यौछावर की जा सकती हैं क्योंकि ये निरलंकार होने पर भी प्राणमयी हैं और वे अलंकारों से लदी होकर भी निष्प्राण हैं। ये अपने जीवन के लिए किसी शास्त्र विशेष की मुखापेक्षी नहीं हैं और अपने आप में परिपूर्ण हैं।"

————

डा० एल० पी० तैस्सितोरि : व्यक्तित्व और कृतित्व

इटालियन होने पर भी सज्जनों का देश भारत जिसको कर्म-भूमि का क्रीड़ा-केन्द्र रहा, विदेशी भाषाभिज्ञ होकर भी जिसने भारतीय भाषाओं का मन्थन कर, लोक-मानस को अपनी साधना के नवनीत से स्निग्ध एवं संतुष्ट किया, ईसाई मत का अनुयायी होकर भी जिसका हृदय जैन धर्म की सैद्धान्तिक विचार धारा और प्रयोगात्मक ज्ञानधारा की ओर उन्मुख हुआ, इटली की वनस्थली में बिहार करता हुआ भी जिसका मस्तिष्क राजस्थान की 'रंग और रण के विधान' में पगी हुई रत्नगर्भा माटी को अपने ज्ञानतन्तु की नोक से कुरेदता हुआ साधना पथ पर बढ़ता रहा। ऐसे विराट, उदात्त एवं उज्ज्वल व्यक्तित्व के स्मरण मात्र से ही हमारे हृदय की शत-शत भावनाएँ उसके चरणों में लौटने लगती हैं। इस अद्वितीय व्यक्तित्व के धनी हैं डॉ० एल० पी० तैस्सितोरि।

जीवन वृत्त :

आपका जन्म १३ दिसम्बर १८८७ को इटली के प्रसिद्ध नगर उदीने (Udine) में हुआ था। आप जन्मजात प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए थे। भाषा जैसे गूढ़ और नीरस विषय की ओर मेधावी छात्र तथा जिज्ञासु होने के कारण बचपन से ही आपकी रुचि थी। इटली में रह कर ही बिना किसी शिक्षक के, केवल पुस्तकों की सहायता के बल पर आपने अंग्रेजीं, लेटिन, ग्रीक, जर्मन, संस्कृत, प्राकृत, पुरानी गुजराती, नयी गुजराती, अपभ्रंश, राजस्थानी (मारवाड़ी), डिंगल, हिन्दी, ब्रज, उर्दू, आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह ज्ञानार्जन आपने केवल ग्रन्थों को पढ़ने के लिए ही नहीं किया था प्रत्युत आप उसमें ठोस और गम्भीर शोध कार्य करना चाहते थे। आपने २१ वर्ष की आयु तक इटली की फ्लोरेन्स यूनिवर्सिटी में शिक्षा प्राप्त की। अंग्रेजी में एम. ए. करने के बाद आप शोध-कार्य में लग गये और इसी यूनिवर्सिटी ने आप को 'रामचरितमानस' निबन्ध पर पी. एच. डी. की उपाधि प्रदान की। इस निबन्ध में आपने तुलसी के 'मानस' के साथ वाल्मीकि के रामायण का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जो आपके अथक परिश्रम,

---

१—तैस्सितोरि दिवस (२२ नवम्बर, १९५६) पर आयोजित 'अखिल भारतीय फूलचंद बांठिया लेख, प्रतियोगिता' में प्रथम पुरस्कृत।

अदम्य साहस और सूक्ष्म निरीक्षण का ज्वलन्त प्रतीक है । तुलसी आपका प्रिय कवि बन गया जिसके कृतित्व की पंक्ति-पंक्ति में भारतीय संस्कृति का रूप निखर उठा है । इसी परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आपने 'तुलसी पर शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य का प्रभाव' शीर्षक खोजपूर्ण, दार्शनिक तत्वों का विवेचन और विश्लेषण करते हुए एक निबन्ध लिखा जो आपके गहन अध्ययन एवं अतल-स्पर्शी ज्ञान का परिचायक है । आप केवल भावुक-कलाकार ही न थे वरन् वीर सैनिक भी थे । सन् १९११ में २३ वर्ष की आयु में आप मिलान की फौज में भर्ती हुए और वहां कुछ महीनों तक कार्य किया । इस प्रकार आपके व्यक्तित्व के एक हाथ में कलम और कागज है तो दूसरे हाथ में तोप और बन्दूक ।

स्वप्न-भूमि भारत में पदार्पण :

बचपन में आप भारत के विषय में नाना प्रकार की कल्पनाएँ किया करते थे । यही आपके सपनों का देश था, भावों का सम्बल था, और प्रेरणा का स्त्रोत था । आपको यह प्रबल इच्छा थी कि भारतीय भाषाओं का अध्ययन भारत की पावन और प्रेरक गोद में ही किया जाय । इसी विषय को लेकर आपके और जैनाचार्य श्री विजयधर्मसूरिजी के बीच काफी पत्र-व्यवहार चला। आचार्यश्री ने अपनी '' यशोविजय-जैन पाठशाला पालीताना '' के अध्यापक के लिए आपको निमंत्रित भी किया पर आप कुछ शर्तों के कारण न आ सके । आखिर ग्रियर्सन की सिफारिश से भारतीय दफ्तर लन्दन ने बंगाल की एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता के लिए आपको भारत बुला- लिया और बार्डिक एण्ड हिस्टोरिकल सर्वे ऑफ राजपूताना के सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर आप नियुक्त कर दिये गये ।

आप नेपल्स से २४ मार्च १९१४ को भारत के लिए रवाना हुए और ८ अप्रैल १९१४ के प्रातः १० बजे बम्बई तट पर जहाज से उतरे । आपके घनिष्ट मित्र S.R. Harganhalli ने आपका अभूतपूर्व स्वागत किया और डॉ. नादगर के घर पर ठहराने का प्रबन्ध किया । दूसरे दिन कलकत्ता के लिए रवाना होकर ११ अप्रैल को प्रातः ७ बजे वहां पहुंचे और कान्टीनेन्टल होटल में ठहरे । ग्रीष्माधिक्य से कुछ समय के लिए रुक कर अंततः २२ जुलाई की शाम को शोध-कार्य के लिए राजपूताने की ओर प्रस्थान किया ।

राजपूताने में शोध-कार्य :

जिस देश को देखने की प्रबल उत्कंठा थी , तीव्र जिज्ञासा थी अमित पिपासा थी, उसी देश में शोध-कार्य करने लिए आपको धरती की धड़कन नापनी पड़ी । जयपुर से सर इलीयट कॉडबिन पॉलीटिकल एजेन्ट के यहां

२दिन ठहरकर आपने राजपूताने में भ्रमण का आज्ञापत्र प्राप्त किया और २६ जुलाई को जोधपुर पहुंचकर महाराजा के सोजती गैस्ट-हाउस में ठहरे। यहां से बीकानेर गये फिर पुनः जोधपुर आये। इस तरह लगभग ५ वर्ष तक आप भारत में घूमते रहे। १६ अप्रेल १९१९ को आप इटली के लिए रवाना हुए पर वहां पहुंचने के ७ दिन पूर्व ही आपकी माता का देहान्त हो चुका था। इस आन्तरिक व्यथा को किसी तरह सहन कर, ४ मास इटली में रहकर दूसरी बार फिर आप भारत लौटे। दुर्भाग्यवश सामुद्रिक यात्रा की कठिनाइयों से आपको निमोनिया हो गया और ३१ वर्ष की अल्पायु में ही २२ नवम्बर को आप उसी माटी में (बीकानेर में) अन्तर्धान हो गये, जिस माटी के रक्त-कणों से आपने अपनी लेखनी को स्वर्णिम बनाया था। ज्ञान की खोज में आप निकले थे फिर मौत का भय भी कैसा?

जोधपुर और बीकानेर में रहकर आपने श्रमनिष्ट साधना की। अलभ्य रत्नों की प्राप्ति में आपकी आत्मा इतनी तन्मय हो गई कि न भूख की चिन्ता रही न प्यास की। कंटकाकीर्ण पथ पर बढ़ने का ही आपने व्रत ले लिया था क्योंकि 'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब' ही आपके जीवन का मूल-मंत्र बन गया था। चिलचिलाती धूप से तप कर धरती तवा बन जाती, लू के गरम-गरम प्रचण्ड झोंके जब हृदय को दहला देते, 'दीरघ दाघ निदाघ' के भय से जब लोग खसखस की टट्टियां लगाते और तहखानों में जा छिपते तब कहीं यह ज्ञान का एकान्त पुजारी प्राणों की बाजी मार कर रेतीले टीलों में जलकर मां भारती की आरती उतारता, पैदल घूम-घूम कर सुषुप्त चेतना को जाग्रत करता, अनन्त ज्वालामुखियों को हृदय में छिपाकर शुष्क मरुस्थल में पुण्यतोया रसवन्ती ज्ञान-गंगा को प्रवाहित करता।

सितम्बर १९१४ में नागौर में आप भंडार देखने गये। वहां कठिनाइयों का आपको सामना करना पड़ा उनका उल्लेख आपके १३-९-१९१४ के पत्र में इस प्रकार है—"गये हफ्ते मैं नागौर गया था। जाने का कारण यह था कि नागौर में दिगम्बरों का एक बड़ा भंडार है जिसमें लगभग १० हजार पुस्तकें हैं। ऐसा सुनने में आया कि वह भण्डार सदैव बंद रहता है और उसका अधिकारी भट्टारक खोलने की इन्कारी करता है। अतः जोधपुर दरबार का आज्ञा पत्र लेकर गया था फिर भी भट्टारक ने कुछ नहीं दिखलाया। अफसोस की बात है कि इतनी प्राचीन और अमूल्य पुस्तकें कीड़ों का खाद्य होंगी।" इस प्रकार की न मालूम कितनी कठिनाइयों को आपने हंसते हँसते पार किया। बीकानेर में आपने वृहत् जैन खरतर गच्छीय आदि कई भंडारों का अवलोकन किया। नगर-नगर, गांव-

गांव में घूम कर पुराने शिलालेख, सिक्के, मूर्त्तियाँ आदि अनेक प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह किया और इसी बल पर आज का बीकानेर म्यूजियम शान के साथ खड़ा है अन्यथा पहले यहां म्यूजियम भी न था।

दिसम्बर सन् १९१६ में आप देशनोक, जांगलू व सुराणों की कुलदेवी के गांव मोरखाणे भी गये। जांगलू के एक चारण का आतिथ्य स्वीकार कर भारतीयता के रंग में आप पूरे के पूरे रंग गये। राजस्थान की गरीब जनता आपके प्राणों की स्पन्दन बन गई । राजस्थान की रजत-भूमि जब स्निग्ध ज्योत्स्ना का स्पर्श पाकर चमक उठती तब आपका अपनी जन्म भूमि से साक्षात्कार हो जाता भारतीय सांस्कृतिक चेतना आपके हृदय-मन्दिर में बैठकर आत्म-गायन करने लगती। बाह्य एवं प्रान्तीय प्राचीर को ध्वन्त कर आपने मानवता को गले लगाया। 'भारतमाता ग्रामवासिनी' का स्पष्ट चित्र आपके मानस पटल पर अंकित होगया और जहां भी आप गये ग्रामीण जनता ने छाछ, दूध, दही और राबड़ी से आपका हार्दिक स्वागत किया। इसी प्रेम को व्यक्त करते हुए आपने कहा—" I am not an Englishman to look down upon all that is not English or at least European, I have the highest respect and admiration for the Indian people."

साधना का नवनीत :

राजस्थान की माटी का मन्थन कर आपने जो अमृत निकाला वह अब भी हमें प्रेरणा और प्रकाश दे रहा है। आपने जो शोधकार्य किया उसका विवरण सोसायटी ने अपनी सन् १९१४, १९१५, १९१६ व १९१७ की चार रिपोर्टों में प्रकाशित करवाया है। ' A Descriptive Catalogue of Bardic and Historical Manuscripts' के नाम से Bardic Poetry के Part I and II और Prose Chronicles के Part I and II प्रकाशित हुए हैं । इनमें जोधपुर और बीकानेर राज्य में पाये गये हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण केवल List (सूची) के रूप में ही नहीं है प्रत्युत उसमें ग्रंथों का सांगोपांग वर्णन भी समाहित है। उदाहरणतः 'गाडण पसाइत री कविता ने औरां री फुटकर कविता' शीर्षक ग्रंथ के विषय में आप लिखते हैं:—

'A Ms. in the form of a book $7\frac{3}{4}$" × $8\frac{1}{4}$" in size. Originally consisting of 232 leaves but now reduced to only 140, 92 of the external leaves having gone lost.

The leaves that remain at present are numbered from 47 to 186. Each page contains 12-14 lines of writing of 18-25 aksharas each. Beautiful and accurate Marwari-devanagari hand-writing. The Ms. is undated, but appears to have been written during the Samvat century 1700."

इस प्रकार सभी हस्तलिखित ग्रंथों का आपने परिचय दिया है। इस परिचयात्मक टिप्पणी में आपका सूक्ष्म निरीक्षण, गहन अध्ययन और मौलिक अनुसंधान स्पष्ट झलकता है। यही नहीं Ms. में लिखित विभिन्न रचनाओं का ऐतिहासिक और विषयगत परिचय भी दिया गया है। कोई भारतीय विद्वान अगर इनका विवरण प्रकाशित करता तो संभवतः सूची भर दे देता। पर यह काम तो इटली के उस स्वेद-साधक ने किया जिसने जान लिया था कि "Art is not a pleasure trip, it is a battle, a mill that grinds."

आपके शोध-कार्य से राजस्थानी साहित्य का ही वास्तविक रूप सामने नहीं आया अपितु यहां का सांस्कृतिक एवं राजनैतिक इतिहास भी मुखरित हो उठा। ज्ञात से अज्ञात की ओर जाकर आपने राजस्थान के अन्तस् में छिपे अनेक मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन किया। इन Mss. की खोज के महत्व का उल्लेख करते हुए आपने Prose Chronicles Part I की भूमिका में लिखा है कि "Almost the generality of these works being anonymous and titleless, the number under which they are registered in the present catalogue will enable one easily to cite them in any work of historical research that may be compiled in future." वस्तुतः जब हम ख्यात, वात, विगत, वंशावली पीढ़ियां आदि का सिंहावलोकन करते हैं तों 'वर्तमान की चित्रपटी पर भूतकाल संभाव्य' बन जाता है। इन अज्ञात ग्रंथों की महत्ता के विषय में आप Bardic Poetry part I की भूमिका में लिखते हैं:— "It is a literate that is almost al-together dead to day, but all the more precious are the relics of its exuberant growtn in the past" इस प्रकार राजस्थानी भाषा के अलभ्य एवं अज्ञात रत्न-ग्रन्थों को विश्व पारखियों के सामने रखकर आपने एक महान अनुष्ठान को सम्पन्न किया है जिसके लिए राजस्थानी भाषा-भाषी संसार ही नहीं अपितु समस्त हिन्दी संसार ऋणी रहेगा।

तीन महत्त्वपूर्ण डिंगल-ग्रन्थों का सम्पादन :

इटली में रहकर ही आपने विभिन्न भारतीय भाषाओं का गंभीर ज्ञान प्राप्त कर लिया था। डिंगल भाषा से आपको विशेष स्नेह था। आप ही के शब्दों में "मुझे जितना प्रेम मेरी मातृभाषा इटालियन से है, उससे अधिक प्रेम मारवाड़ी भाषा से है; क्योंकि उसमें बल, ओज और मिठास है।" इसी प्रेम के वशीभूत होकर आपने निम्न लिखित तीन ग्रंथों का सम्पादन किया, जिनका प्रकाशन बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने किया।

(१) वेलि क्रिसन रुकमणी री राठौर राजा प्रीथिराज री कही।

(२) वचनिका राठौड़ रतनसिंहजी महेसदासोत री खिड़िया जगा री कही।

(३) छंद राउ जइतसी रो।

वेलि क्रिसन रुकमणी की कथा लोकप्रिय कथा है। भीष्मक अपनी कन्या रुकमणी का विवाह शिशुपाल के साथ करना चाहते हैं पर रुकमणी कृष्ण से प्रेम करती हैं। शिशुपाल बरात सजाकर आता है और इधर रुकमणी कृष्ण को पत्र भेजती है। अम्बिका पूजा के मिस अम्बिकालय में कृष्ण उसका हरण करते हैं, युद्ध होता है जिसे बलभद्र की सहायता से कृष्ण जीतते हैं। दोनों के संयोग से प्रद्युम्न का जन्म होता है। डा० टैसीटोरी ने इस ग्रन्थ का सम्पादन कर और इसकी भूमिका लिखकर प्रकाश-स्तम्भ का कार्य किया है। राजस्थान में क्या विश्व साहित्य के किसी भी उच्चकोटि के ग्रन्थ के सामने वेलि को सहर्ष रखा जा सकता है। आपने स्वयं इसे 'One of the most fulgent gems in the rich mine of the Rajasthani literature' बताया। इसकी भूमिका में आपने इसकी महत्ता बतलाते हुए रचयिता के जीवन की प्रासंगिक घटनाओं का उल्लेख किया है साथ ही समकालीन कवि लोकनायक तुलसीदासजी से प्रीथिराज की तुलना भी की है। यहीं आपने डिंगल को पिंगल की अपेक्षा अधिक संगीतात्मक एवं ध्वन्यात्मक मानकर डिंगल के प्रति अपनी गुणग्राहकता का प्रदर्शन किया है। आप लिखते हैं–'It is certain that had Prithi Raja chosen to compose his 'Veli' in emasculated Pingala, he would have given us a very different composition, not superior in musicality and considerably inferior in naivete.' डा० टैसीटोरी के ही प्रकाश-पथ पर चलकर बाद में पारीकजी, दीक्षितजी और स्वामीजी ने वेलि का सम्पादन किया। इसके सम्पादन

के लिए डॉ० साहब ने आठ हस्तलिखित ग्रन्थों का संकलन किया जिनका उल्लेख वेलि की भूमिका में मिलता है ।

वचनिका का सम्पादन भी आपके अध्यवसाय का फल है । इसमें उज्जैन के युद्ध का वर्णन है जो कि संवत् १७१५ वैशाख कृष्णा ६ शुक्रवार को हुआ था । इस युद्ध में एक ओर जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह जी ने शाही सेना का नेतृत्व किया और दूसरो ओर सम्राट् के विद्रोही पुत्र औरंगजेब और मुराद थे । रतलाम के राजा रतनसिंह के आत्म-बलिदान का इसमें मार्मिक वर्णन है। इसकी भूमिका में टैसीटोरी ने अपनी खोज-प्रवृत्ति का परिचय दिया है । जगा नाम के दो चारणों का उल्लेख कर आपने विद्वानों का ध्यान इस ओर खींचा है । 'अचलदास खीची री वचनिका सिवदास री कही' से तुलना करते हुए आपने लिखा है कि "It differs from the Vacanika of Achaladasa, the form which is comperatively rude and uncouth, and from all similar works of the Old Dingla period." इसके सम्पादन के लिए आपने ३० Mss. एकत्रित किये जिनमें से १३ के आधार पर इसका सम्पादन किया ।

रतनसिंहजी पर Sandu Kumbhakarana द्वारा लिखित 'रतन-रासो' का भी आपने अपनी भूमिका में उल्लेख किया है जिसमें केवल युद्ध का वर्णन ही नहीं बल्कि नायक के अन्य साहसिक कार्यों का भी उल्लेख है और जो डिंगल में न होकर पिंगल में है ।

'छंद राउ जइतसी रो' आपको कठिन तपस्या का फल है । यह ग्रंथ राजस्थान के सबसे कठिन ग्रन्थों में से एक है । इसके शब्दों का समझना साधारण व्यक्ति से लिए कल्पनातीत है । राजस्थान का रहने वाला भी इसका अर्थ सुगमता से नहीं लगा सकता, फिर भी डा० टैसीटोरी ने इसका सम्पादन सुरुचिपूर्ण शैली में किया है जो उनकी प्रतिभा का आलोक पिंड है । इसमें बीकानेर के राजा जैतसी की रण-कुशलता का वर्णन है जिसके द्वारा उन्होंने बाबर के पुत्र कामरां-जो कि भटनेर पर कब्जा करने के बाद बीकानेर की ओर बढ़ा था--पर विजय प्राप्त की । इसका रचना काल संवत १५९१ है । इसका लेखक अज्ञात है । इसकी भूमिका भी आपके मनन और चिन्तन की प्रकाशिका है ।

आपने भूमिकाओं के साथ साथ इन ग्रन्थों में Notes and Glossary का भी विधान किया है जो आपकी भाषा वैज्ञानिकता का प्रतीक है । जब ग्रन्थों का पठन करते हैं तो रह रह कर यह प्रश्न सामने आता है कि कैसा होगा डा० टैसीटोरी का दिमाग जिसने भारत से दूर रह कर, इटली में जन्म लेकर, भारतीय विशेष कर डिंगल भाषा पर अपना इतना अधिकार जमाया ।

जबरदस्त भाषा-वैज्ञानिक :

भारतीय भाषाओं के प्रति आपका सहज आकर्षण था। बचपन से ही भाषा का गाम्भीर्य आपका संगी बन गया था। इसी से प्रेरित होकर आप अनेक भाषाओं के ज्ञाता बन गये। ऐसा कहा जाता है कि भाषा अपने आप सीखी नहीं जाती पर आपने अन्तर्प्रेरणा से केवल पुस्तकों के बल पर भाषा-ज्ञान प्राप्त कर अपनी असाधारण प्रतिभा की छाप जन-मानस पर छोड़ी। अपनी भाषा प्रवृत्ति के संबंध में तारीख ६-६-१३ के पत्र में आपने लिखा—"प्राकृत भाषा से मुझे बहुत शौक है। अपभ्रंश और वर्तमान में प्रचलित भाषाओं का परस्पर क्या संबंध है, इस विषयक मैं अभ्यास कर रहा हूं। यहां की फ्लोरेन्स की लाइब्रेरी में से पुरानी गुजराती की कुछ प्रतियाँ मिली हैं। इन पर से अपभ्रंश द्वारा गुजराती की मूल उत्पत्ति खोज निकालने का प्रयास कर रहा हूँ।"

कितना उत्कट प्रेम विदेशी भाषाओं के प्रति, कितनी बड़ी जिज्ञासा नये ज्ञान के प्रति, कितनी सजग प्रबुद्धता अपने लक्ष्य के प्रति।

आपने पुरानी पच्छिमी राजस्थानी पर "Notes on the Grammar of the Old Western Rajasthani with special reference to Apabhramsa anb Gujarati and Marwari" शीर्षक निबन्ध लिखकर महत्वपूर्ण कार्य किया है। इसी निबन्ध के बल पर डिंगल का साहित्यिक रूप विश्व के सामने आया और भारतीय वाङ्मय में उसे स्थान मिला। यह निबन्ध 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' में धारावाहिक रूप से १६१४ के अप्रैल, मई, सितम्बर, अक्टूबर, नवम्बर, दिसम्बर तथा सन् १६१५ के जनवरी से जुलाई तक और सन् १६१६ के जनवरी तथा जून के अंकों में प्रकाशित हुआ था। इस निबन्ध के भाषा वैज्ञानिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने अपनी पुस्तक 'राजस्थानी-भाषा' में लिखा है कि "पुरानी राजस्थानी की उच्चारण-रीति, रूप तत्व और वाक्य रीति के पूरे विचार के साथ टैसीटोरी द्वारा की गई आलोचना ऐसी महत्वपूर्ण है कि इसे राजस्थानी (मारवाड़ी) तथा गुजराती भाषा तत्व की बुनियाद कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं।"

फ्लोरेंस के Regia Biblioteca Nagion ale Centrale के भारतीय संग्रह में कुछ प्राचीन पच्छिमी राजस्थानी के हस्तलिखित ग्रन्थ डा० टैसीटोरी को मिले और उन्हींके आधार पर यह निबंध लिखा गया। स्वयं डा० साहब के शब्दों में "नव्य भारतीय भाषा विज्ञान के इस महत्वपूर्ण विषय पर भारत में कभी गए बिना ही, काम करने का साहस करने वाला मैं पहला

यूरोपियन हूं ।" और वस्तुतः भारत के विदेशी भाषा-वैज्ञानिकों में आपका प्रथम स्थान है ।

सबसे पहले डा० ग्रियर्सन ने सन् १९०७ और १९०८ में 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इण्डिया' के दो जिल्दों में राजस्थानी का 'वर्णनात्मक व्याकरण' प्रस्तुत किया था। पर इसमें सबसे बड़ी कमी थी ऐतिहासिक परम्परा की । जिसके बिना भाषा के विकास की रेखा धूमिल एवं अस्पष्ट थी । इस कमी को डॉ० तैस्सितोरी ने पूरा किया। डा० तैस्सितोरी के पहले किसी भी व्यक्ति ने आधुनिक भारतीय भाषाओं में से किसी भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण प्रस्तुत नहीं किया। इस दृष्टिकोण से डा० तैस्सितोरी का उक्त निबन्ध राजस्थानी का ही नहीं वरन् भारतीय-आर्यभाषा के ऐतिहासिक व्याकरण की नींव कहा जा सकता है । पुरानी पच्छिमी राजस्थानी के द्वारा डा० तैस्सितोरी ने "अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के बीच की उस खोई हुई कड़ी के पुनर्निर्माण का प्रयत्न किया है जिसके बिना किसी आधुनिक भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण लिखा ही नहीं जा सकता।"

जिन २२ जैन हस्तलिखित ग्रन्थों के आधार पर डॉ० तैस्सितोरी ने राजस्थानी व्याकरण का विवेचन किया है उससे अपभ्रंश काल के बाद की भाषा के ध्वनि परिवर्तन की प्रवृत्तियों पर पूरा प्रकाश पड़ता है । इस दृष्टि से आपका ध्वनि सम्बन्धी ज्ञान बहुत व्यापक एवं उपोदय है । आपके इस निबन्ध का अनुवाद श्री नामवरसिंह ने 'पुरानी राजस्थानी' नाम से पुस्तकाकार में किया है जिसका प्रकाशन काशी नागरी प्रचारिणी सभा से करवाया है ।

इस निबन्ध के अतिरिक्त आपने और भी भाषा विज्ञान सम्बन्धी कई लेख लिखे हैं जिनमें महत्वपूर्ण निबन्ध निम्नलिखित कहे जा सकते हैं ।

१. Origion of the Dative and Genetive and Dative Post position in Gujarati and Marwari. 1913.

२. Some Grammatical forms in the old Baiswari of Tulsidasa. 1914.

३. The wide sound of 'E' and 'O' in Marwari and Gujarati (Ind. Ant. Sept. 1918).

जैनधर्म के प्रति अनन्य अनुरागः

आप जैनाचार्य श्री विजयधर्मसूरिजी के अनन्य उपासक एवं शिष्य थे । जैन धर्म के सिद्धान्तों को अपने जीवन में भी उतारा । जैन-साहित्य का व्यापक अध्ययन कर आपने विभिन्न ग्रन्थों का सम्पादन किया । इटली में रहते हुए भी

आपका आचार्यश्री से पत्र व्यवहार चलता रहा। सर्व प्रथम प्रो० जैकोबी के प्रेरणा करने पर आपने ११ अप्रैल १६१३ को उदीने से आचार्यश्री के नाम एक पत्र लिखा जिसमें आपने धर्मदास की 'उपदेशमाला'. 'श्रेणिक की कथा' और जयवल्लभ कृत 'वज्जालग' के सम्पादन व भाषानुवाद करने की उत्कट अभिलाषा व्यक्त की। और साथ में यह भी लिखा कि 'मुझे पूरा विश्वास है कि भारत, उसके साहित्य तथा जैन धर्म के प्रति मेरा प्रेम देखकर आप मुझे अवश्य सहायता देंगे।' फलतः आचार्यप्रवर ने आपको 'उपदेशमाला' और 'श्रेणिक की कथा' की हस्तलिखित प्रतियाँ भेजीं।

गुरु के प्रति आपकी असीम श्रद्धा थी। गुरु का शान्त एवं गंभीर व्यक्तित्व सदैव आपकी पुतलियों में लहरता सा प्रतीत होता था। गुरु के दर्शनों की तीव्राभिलाषा आपको विह्वल बनाने लगी और आप भारत आने के लिए प्रयत्न करने लगे। आखिर आपका सपना साकार हुआ और सर्व प्रथम आपने एरिनपुरा में उस दिव्य मूर्ति से साक्षात्कार किया जो तिरछी होकर आपके हृदय में गढ़ गई थी। अल्पकालीन सम्पर्क ने आपको अत्यन्त प्रभावित किया और आप अनन्य सेवक बन गये। दूसरी बार आपकी आचार्य श्री से भेंट ८ जून १६१७ शुक्रवार को २ बजे राणी नामक गांव में हुई। तीसरी बार तो आपने उनके साथ पद-विहार किया जब आचार्य श्री ने सादड़ी से राणकपुर की ओर प्रस्थान किया था।

इटली में रहकर आपने जैन साहित्य विषयक सम्पादन कार्य करना चाहा। आचार्य श्री ने आपको 'अहिंसा—दिग्दर्शन, 'जैन-शिक्षा, 'जैन-तत्व' आदि पुस्तकें भेजीं। 'जैन-शासन' नामक समाचार पत्र पाकर तो आप इतने हर्षित हुए कि तुरन्त वार्षिक चन्दा भेजने को उद्यत हुए। समय समय पर आचार्य श्री के द्वारा प्रेषित जिनकीर्तिसूरी कृत षड्भाषास्तवन, महाजन वंश मुक्तावलि, चित्तौड़ की गजल, राजा गजसिंह का निर्वाण, पद्मणी चौपाई (अपूर्ण) ऐजन (पूर्ण) गौडी पार्श्वनाथ स्तवन आदि पुस्तकों का मन्थन कर आपने जैन साहित्य के प्रति श्रद्धा प्रकट की।

आपकी पत्र लिखने की प्रवृति बड़ी रोचक एवं हृदय-हारिणी थी। आपने आचार्य श्री के नाम कुल २० के लगभग पत्र लिखे। उनमें से कुछ उदीने से और कुछ भारत का भ्रमण करते समय विभिन्न स्थानों से लिखे। १४ पत्र आपने अंग्रेजी में लिखे एक पत्र हिन्दी और अंग्रेजी दोनों में और पांच पत्र हिन्दी में लिखे। पत्रों में आपने अपने हृदय को खोल कर रख दिया है। हिन्दी के प्रति आपका उत्कट प्रेम था और इसी प्रेम से प्रेरित होकर आपने आचार्य श्री

को लिखा कि आप मुझे जो पत्र लिखा करें वे गुजराती अथवा देवनागरी लिपि में ही लिखा करें।

भारतीय जन-जीवन के साथ आप 'पानी में को लोन' की तरह हिलमिल गये थे। जिसका सबूत आपका यह कथन है कि "मैं भारतीय लड़की के सिवाय किसी दूसरी से शादी नहीं करूँगा।" और वस्तुतः आप आजन्म अविवाहित रहे। मांस भक्षण करना भी आपको रुचिकर न था। इस विषयक चर्चा करते हुए आपने आचार्य श्री को १६ अक्टूबर १९१३ के पत्र में लिखा कि 'हमारा ईसाई धर्म यह सिखलाता है कि ईश्वर ने जितने भी जीव-जन्तु बनाये हैं वे मानव के हित के लिए ही। अतः उन्हें खाना कोई पाप कर्म नहीं। पर ४ वर्ष पूर्व फ्लोरेन्स में दो ब्राह्मणों के बीच हुई चर्चा से प्रेरित होकर मैंने १ वर्ष के लिए मांस भक्षण छोड़ दिया था। फलस्वरूप मेरा स्वास्थ्य बिगड़ गया और वैद्यों की सलाह के कारण फिर से मुझे उसका सेवन करने को विवश होना पड़ा। पर है यह मेरी इच्छा के विरुद्ध। जब मैं भारत आऊँगा तो आपको विश्वास दिलाता हूँ कि इसका सेवन अवश्य छोड़ दूंगा! यहाँ भी मैं मांस के नाम पर सिर्फ अण्डे ही खाता हूँ, वह भी सप्ताह में दो या तीन बार।" और भारत आने पर आपने वस्तुतः मांस का सर्वथा प्रकारेण त्याग कर दिया। पं० विश्वेश्वरनाथजी रेउ ने आपके निमित्त भारतीय शाकाहारी भोजन का प्रबन्ध कराया। सच तो यह है कि आचार्य श्री के सत्संग से आप जैन श्रावक बन गये थे। श्रावक के आठ व्रतों (प्राणातिपात विरमण व्रत, मृषावाद विरमण व्रत, अदत्तादान विरमण व्रत, अब्रह्मचर्य विरमण व्रत, परिग्रह विरमण व्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड विमरण व्रत) का पालन करते थे। केवल चार शिक्षाव्रतों (सामायिक, देशावशिक, पौषध और अतिथि संविभाग) का पालन आचार-भूमि से विशेष सम्बन्ध होने के कारण आप न कर सके।

जैन साहित्य का विश्व-व्यापी प्रचार करने में आपने महान योग दिया। उपदेशमाला, भववैराग्य शतक, करकण्डु री कथा तथा इन्द्रिय पराजय शतक का इटालियन भाषा में भाषान्तर किया। श्रेणिक की कथा, जिनमाणिक्यसूरि कृत कुम्भापुत्तकहा, नेमिचन्द्र कृत "सट्ठिसयं" सोमसूरि कृत 'पज्जंता सहणं' पुण्याश्रावक कथा कोष, कल्याणमन्दिर स्तोत्र, आदि कई जैन सूत्रों एवं ग्रन्थों का आपने आलोचनात्मक सम्पादन किया। इसके अतिरिक्त 'अहिंसा-दिग्दर्शन' आदि कई पुस्तकों की समालोचना इटालियन भाषा में की जिनका प्रकाशन 'जर्नल डेला सोसायटा एशियाटिका इटालियना. के पत्रों में हुआ। इस प्रकार जैन धर्म की निर्मलता और निष्कपटता, संयमता और सरलता आपके जीवन

और कृतित्व में पद पद पर दृष्टिगत होती है। एक विदेशी जैन धर्म को इतनी श्रद्धा और स्नेह की आंखों से देखे और दूसरी ओर ईसाई धर्म का भी पूर्णतया पालन करे, आश्चर्य में डालनेवाली बात नहीं तो और क्या है ? टैसीटोरी का जीवन इन्हीं विविधताओं और विचित्रताओं से भरा हुआ है।

प्रकाश स्तम्भ :

जिस समय विश्व क्षितिज पर प्रथम महायुद्ध के बादल मंडरा रहे थे। चारों ओर हिंसा, हत्या और हाहाकार का बोलबाला था, इटली का जन-मानस रणलिप्सा में उन्मत्त हो रहा था उस समय यह मूक साधक सपनों की भूमि भारत का पर्यटन करने निकला, सब कुछ छोड़ कर, केवल लग्न और विश्वास का सम्बल लिये, गौतम बुद्ध की तरह ज्ञान की खोज में। पर यह ज्ञान की खोज अपने लिए नहीं, अपने देश के लिए नहीं, प्रत्युत भटकती मानवता को आश्रय देने के लिए, विलखती सभ्यता को धीरज बंधाने के लिए और बिखरी संस्कृति को एक सूत्र में पिरोने के लिए।

प्रताप की भांति जो रेत के टीलों को छानता फिरा, आंधियों और तूफानों से अकेला लड़ता रहा, शूलों का पान कर जो विजन वनस्थली में पलता रहा पर कभी आह नहीं की। प्रताप की तरह भावुकता के आगे जिसकी साधना कभी नत नहीं हुई, अविराम जलती हुई श्रम की बाती कभी मन्द नहीं हुई, द्रुत गति से चलती हुई लेखनी कभी बन्द नहीं हुई। वे कर्मठ कर्मयोगी डॉ० टैसीटोरी आज हमारे बीच नहीं हैं। लेकिन उनके कृतित्व में प्रतिबिम्बित उनकी आत्मा आज भी अपना अमर सन्देश देश–देशान्तरों में प्रसारित कर रही है कि मानव मात्र एक है। काले गोरे की रंग भेद नीति, बाहरी राष्ट्रीय परि-सीमाएं और साम्राज्य लिप्सा की शोषक प्रवृत्तियां निर्मूल, मिथ्या एवं अहित-कारी हैं। विश्व कल्याण की एक मात्र आधार शिला है विभिन्न संस्कृतियों का परस्पर समन्वय, विविध भाषाओं का आपसी सम्पर्क और विश्व-साहित्य का आदान-प्रदान। जिस शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peaceful-coexistence) की बात आज विश्व के रंगमंच पर अभिनय कर रही है उसका उद्‌घाटन डॉ० टैसीटोरी ने ही भारत में अपने जीवन की आहुति देकर किया था। हठात् उनके प्रति हमारे मुंह से ये शब्द निकल पड़ते हैं कि 'साहित्यकार की स्याही शहीद के खून से भी पवित्र होती है। उसे जीते जी अपनी हड्डियों और रक्त का दान देकर साहित्य का निर्माण करना पड़ता है और वस्तुतः व्यक्तित्व ही साहित्य बनकर सामने आता है।'

वह दिन दूर नहीं जब भारत का नवीन दृष्टिकोण से सांस्कृतिक इतिहास लिखा जायगा, तब डॉ० टैसीटोरी का नाम सर्व प्रथम मोटे स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा। कर्नल टॉड के बाद आप ही एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने राजस्थानी भाषा और संस्कृति कौ गौरव प्रदान किया। कवीन्द्र रवीन्द्र ने अपने विषय में जो कहा है वह आपके विषय में भी कहा जा सकता है कि—

'गलाये गलाये वासनार सोना,
प्रतिदिन आमि करोछि रचना।'

(वासना के स्वर्ण को गला गला कर मैं प्रतिदिन रचना किया करता हूँ।)

२२ नवम्बर १९५६ को राजस्थान व्यापी आपका स्मृति दिवस मनाया गया। सादूल राजस्थानी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बीकानेर के तत्वावधान में आपकी कब्र का उद्घाटन भारत स्थित इटली के राजदूत के काउन्सल डॉ० तिबेरियो-तिबेरी के द्वारा सम्पन्न हुआ। आपका भौतिक शरीर चाहे आज न हो पर आपकी आत्मा तो अजर अमर है, क्योंकि 'Fame is food that dead men eat.' प्रेम के आसन में जिनका अमर स्थान है, मृत्यु के शासन में उनका खोना कोई खोना नहीं है। देश की मिट्टी से जो हर लिये गये, देश के हृदयों ने उन्हें वरण कर धारण कर लिया है। महाकवि जायसी की ये पंक्तियां आपके व्यक्तित्व के साथ घुलमिल गई हैं—

"मानुस पेम भएउ बैकुंठी।
नाहिं त काह छार एक मूंठी॥"

राजस्थानी का नया रचनात्मक साहित्य

राजस्थानी का नया रचनात्मक साहित्य वस्तु और शिल्प दोनों में अपने प्राचीन साहित्य से भिन्न है। यह भिन्नता विरोधमूलक न होकर अभियान-मूलक है। प्राचीन साहित्य में रजवाडों के इतिहास की सामन्तवादी संस्कृति का स्वर अधिक मुखर है तो नये साहित्य में जनतांत्रिक समाजिक चेतना की ंघर्षपूर्ण कहानी का स्वर अधिक तीव्र है। एक में क्षात्रधर्म पर मर मिटने वाले वीरों को भाव भीनी श्रद्धांजली दी गई है तो दूसरे में उस अनवरत संघर्ष से उत्पन्न सामाजिक एवं आर्थिक समस्यायों का मार्मिक चित्र उतारा गया है। राजस्थानी के नये साहित्य की पूर्वपीठिका हिन्दी साहित्य की तरह रीतिकालीन या शृंगारपरक नहीं है। वह प्रधानतः वीर भावों से बंधी हुई है। उसमें अब यह अपेक्षा थी कि उसकी पूजा के प्रतीक बदल जांय। वैयक्तिक आश्रयदाताओं का स्थान राष्ट्र नायक लें, संघर्षो से मुकाबला करने वाले किसान और मजदूर लें, और यह हुआ भी सही। अतः यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी का नया साहित्य परम्परा के प्रति विद्रोह न होकर परम्परा के क्षितिज पर ही उठने वाले नये सूर्य की प्रगति का आलोक है।

राजस्थानी का यह नया साहित्य प्रधानतः कविता के रूप में ही लिखा गया है। इस नवीन काव्य धारा का प्रमुख विषय रहा है मानव और प्रकृति। यहाँ जो मानव चित्रित हुआ है वह सामान्य जन का प्रतिनिधि है। उस पर न तो सामन्ती प्रभाव है न अलौकिक आवरण। वह राजा महाराजा से हटकर साधारण किसान, मजदूर और सैनिक बन गया है। वह सबल भी है और दुर्बल भी। उसकी शक्ति का उपयोग राष्ट्र के नव निर्माण में किया गया है। उसमें रेगिस्तान को हरा भरा नन्दन वन बना देने की क्षमता है, माटी से सोना निप-जाने की तड़प है और देश की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग कर देने की साध है। सर्व श्री मुकुल, सुमनेश जोशी, रेवतदान चारण 'कल्पित,' गणेशी लाल व्यास उस्ताद, गणपत चन्द भण्डारी, सुमेर सिंह शेखावत, भीम पांडिया आदि कवियों में मानव की इसी अपराजेय शक्ति का ओजपूर्ण चित्रण मिलता है। प्रबन्ध धारा में जहाँ इस मानवीय शक्ति को वर्ण्य विषय बनाया गया है वहाँ वह है तो राजघराने से संबंधित, पौराणिक वातावरण से मंडित और कुलीन वंशोत्पन्न पर उसे मानवीय संवेदनाओं से संपृक्त कर जन साधारण के धरातल पर ला उतारा है। श्री कन्हैयालाल सेठिया की "पातल और पीथल" शीर्षक

कविता का प्रतार सामान्य मानव की तरह अन्तर्द्वन्दों से गुजरता है । 'मुकुल' की "सैनाणी" नायक के मोहाभिभूत व्यक्तित्व पर नायिका के प्रेम और कर्तव्य की बलिदानी गाथा लिखकर उसे मर मिटने की प्रेरणा देती है । सत्य-प्रकाश जोशी की "राधा" में प्रेम लीला का चित्रण न होकर युद्ध से आक्रान्त मानवता का संवेदनशील हृदय बार बार धड़का है । श्रीमन्त कुमार व्यास के "रामदूत" में और श्री कान्ह महर्षि के "मरुमयंक" में प्रबन्धात्म-कता तो है पर कथा का दृष्टिकोण पौराणिक अधिक है नवीन चेतना से अनु-प्राणित कम । एक में हनुमान नायक हैं तो दूसरे में रामदेव । दोनों में आदर्श चरित्र की अवतारणा की गई है । प्रबन्ध-धारा में मानव-मूल्यों की दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठा करने वाले हैं श्री नारायण सिंह भाटी । उनके "दुर्गादास" में कोई कथा नहीं चलती । दुर्गादास के जीवन की विशिष्ट घटनाओं का वर्णन ही इस ढंग से किया गया है कि एक-एक प्रसंग से मानवीय गुणों की पंखुड़ियाँ स्वतः खुलती जाती हैं ।

मानव की दुर्जेय शक्ति का आख्यान जहाँ इस काव्य धारा में मिलता हैं वहां उसकी दुर्बलता, कमजोरी और विकृति को भी तीव्रता के साथ कुरेद कुरेद कर रखा है । मानव मन की इस विकृति और सामाजिक जीवन की विद्रूपता को सबल अभिव्यक्ति देने के लिए हास्य और व्यंग्य का सहारा लिया गया है । इस क्षेत्र में बुद्धिप्रकाश पारीक और विश्वनाथ शर्मा "विमलेश" के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं । पारीक की कविताओं में दैनिक जीवन के साधारण कार्य-व्यापारों को लेकर सामाजिक जीवन की विकृतियों एवं रूढ़ियों का पर्दाफाश किया गया है । "चूंटक्या" और "बबड़का" में संगृहीत कविताएं एक ओर अपने मुखर व्यंग्य से समाज को स्वस्थ चिन्तन की ओर अभिमुख होने को सचेत करती हैं तो दूसरी ओर अपने उन्मुक्त हास्य से जीवन में पैठी हुए विद्रूप-ताओं को छिन्न भिन्न करती हैं । "तिरसा" में पारीक व्यंग्य के साथ साथ रंग और जंग के भी निकट आये हैं । विमलेश की कविताओं में व्यक्ति की अपेक्षा समाज की अन्धरूढ़ियों पर किये गये प्रहारों की चोट अधिक तीखी हैं । उनके हास्य में एक कथा सी चलती है पर अन्त में सारा व्यंग्य सिमट कर पाठक और श्रोता को तिलमिला देता है । "छेड़खानी" में सचमुच कवि ने समाज के तथाकथित नेताओं और कार्यकर्त्ताओं से छेड़छाड़ की है ।

मानव मन के संघर्ष के साथ साथ उसके प्रेमभाव को भी व्यंजित किया गया है । यह प्रेम भाव अतीत की उज्ज्वल परम्पराओं से रस पाकर राष्ट्रीयता की जड़ों को सींचता है तो चिन्तन की उर्ध्वमुखी दिशाओं में फैलकर आत्म शक्ति

का दर्शन भी करता है। देश प्रेम की भावना को स्फुरणा देने वाले कवियों में भी श्रीमुकुल मनोहर शर्मा, करणीदान बारहठ, गिरधारी सिंह पड़िहार आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। मुकुल की 'सैनाणी' 'कोड़मदे' आदि कविताओं में क्षात्रधर्म का तेज और बलिदान की पुकार है। मनोहर शर्मा ने "अरावली की आत्मा" को पुनर्जीवित किया है। करणीदान बारहठ ने शाहणी, महामाया, दवेड़ाआंसू, देपूंठों आदि कविताओं में नारी जाति की प्रेरणा शक्ति, प्रेम-भक्ति और करुण मूर्ति का दर्शन किया है। पड़िहार की "जागतीजोतां" मेघनाद, पूरू, पाबूजी, प्रताप, डूंगजी, जवारजी, बारू आदि महान व्यक्तिओं की जीवन गाथा के जाज्वल्यमान पृष्ठ खोलती है। चीनी आक्रमण के सम्बन्ध में लिखी गई कविताओं में राष्ट्रीयता का यह स्वर अधिक तीव्र और स्पष्ट है। कन्हैया लाल सेठिया के गीतों में देश प्रेम के साथ साथ अध्यातम भावना भी है। दार्शनिक चिन्तन को सहज और सरल ढंग से प्रस्तुत करने में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। "मीझर" के कतिपय गीत इसके प्रतीक हैं। आध्यातम क्षेत्र के दूसरे कवि हैं श्री मनोहर शर्मा। "मरवण" में वे लौकिक प्रेम को ईश्वरीय प्रेम तक खींच ले गये हैं। उनका ढोला जीव का, मरण विद्या की और मालवणी अविद्या की प्रतीक है। 'अमरफल' प्रतीकात्मक काव्य है जिस पर कठोपनिषद् की आध्यात्मिक छाया का वितान तना है।

आधुनिक राजस्थानी काव्य ने मानव को जितना महत्व दिया है उतना ही महत्व प्रकृति को भी। इसके पूर्व प्रकृति का सांगोपांग संश्लिष्ठ वर्णन अपने स्वतन्त्र रूप में देखने को नहीं मिलता। राजस्थान का मानव जितना सबल और दुर्बल है यहां कि प्रकृति भी उतनी ही रम्य और भंयकर है। पावस की प्राण-दायी फुहार और ग्रीष्म की प्राणविदग्ध लू का मार्मिक चित्रण किया है श्री चन्द्रसिंह ने 'बादली' और 'लू' में। दोहा छन्द में लिखी होने पर भी इन दोनों कृतियों में प्रकृति के जो विविधरंगी दृश्य देखने को मिलते हैं वे पर्याप्त मौलिक और जीव-जगत के क्रिया व्यापारों के सवाक् चित्रपट हैं। नानूराम संस्कर्ता-ग्राम्य प्रकृति के चित्रण में अपनी सानी नहीं रखते। ऋतुकाव्य में उनकी कृति 'कलायण' का विशेष महत्व है। उमस आगे, बीजल बेल, धूंआ धबर और मुधर मंगल के क्रम से कवि ने जहां इसमें षट ऋतुओं के वर्णन के लिए अवसर निकाला है वहां राजस्थान की गौरव गाथा के बहुरंगी चित्र भी दिये हैं। 'दसदेव' में संस्कर्ता ने माँ प्रकृति की गोद में फलने फूलने वाले पांच वन देवों (नीम, खेजडो, फोग, झाड़लो, जाल) और पांच भूमि देवों (कूओ,

ओड़ों, घोरों, खेदड़ , खाण) की आरती उतारी है। प्रकृति के उपेक्षित तत्वों को स्थापना कर कवि ने उनके प्रति मानवीय अनुराग की भावना को सप्राण बनाया है। प्रकृति के एक काल खंड 'सांझ' को मानवीय संवेदना और सामाजिक चेतना से अनुप्राणित करने वाले हैं श्री नारायण सिंह भाटी। 'सांझ' का कवि रूढिवादिता और परम्परागत वर्णन प्रणाली से स्वतन्त्र है। वह बंधा हुआ है अपने प्रत्येक छन्द में गांव की साँझ मे उठने वाली उथल-पुथल से। गजानन वर्मा ने परम्परागत "बारहमासा" को वियोग की ज्वाला से बाहर निकाल कर उसमें नव निर्माण की आग और ताकत भरी है। कहना न होगा कि राजस्थानी के नये काव्य में चित्रित प्रकृति अधिक व्यक्तित्व संपन्न, समाज संवेद्य और चित्रात्मक है।

राजस्थानी की यह नवीन काव्य धारा शिल्प विधान में भी प्राचीन काव्य धारा से भिन्न है। सूर्यमल्ल मिश्रण तक आते आते 'वीर सतसई' में सामान्य वीर की विभिन्न अवस्थाओं का चित्रण तो मिलता है पर भाषा शैली परम्परागत ही रही। राजस्थानी की कविता को रूढिगत भाषायी कठवरे से बाहर निकाल कर उसे प्रचलित शब्दों के राजपथ पर ला खड़ा करने में श्री मुकुल का विशेष योगदान रहा है। अब काव्य की भाषा में न तो वयणसगाई का कठोर आग्रह है न विशिष्ट रूप और स्वभाव वाले शब्दों की एकतानता का मोह। भाषा की भांति ही शास्त्रीय छन्दों के फौलाद शिकंजों में जकड़ी हुई कविता की आत्मा को मुक्त कराने का श्रेय है श्री नारायण सिंह भाटी को। अब राजस्थानी कविता के छन्द दोहा, सोरठा, कुंडलियाँ, छप्पय आदि नहीं रहे। वह तो छन्दों का शास्त्रीय बंधन तोड़कर भिन्न तुकान्त मुक्तक क्षेत्र और लोक धुनों प्रदेश में भी प्रवेश कर गई है। "दुर्गादास" और "राधा" खंड काव्यों में प्रचलित समस्त प्राचीन काव्य शैलियों के प्रति विद्रोह देखा जा सकता है। काव्य रूपों की दृष्टि से भी इस नवीन काव्य धारा ने कई प्रयोग किये हैं। 'गीत कथा' प्रबन्ध और मुक्तक के बीच की स्थिति है। समें कथा को गीतों के माध्यम से आगे बढ़ाया जाता है। मनोहर शर्मा को इस दिशा में विशेष सफलता मिली है। गीत काव्य की दृष्टि से भी यह काव्य धारा विशेष सम्पन्न है। साहित्यक गीतों में कवित्व के अधिक दर्शन होते । श्रीकन्हैयालाल सेठिया और सत्यप्रकाश जोशी के गीत उच्चकोटि के हैं। लोक धुनों पर आधारित ध्वनि गीतों की उपलब्धि इस काव की महत्वपूर्ण देन है। लोक जीवन और लोक संगीत का अद्भुत समन्वय हुआ है इन ध्वनि गीत में। श्री गजानन वर्मा, कल्याण सिंह राजावत, रघुराज सिंह हाड़ा, मदनगोपाल शर्मा और लक्ष्मण सिंह "रसवन्त" को

ध्वनि गीत लिखने में विशेष सफलता मिली है। श्री गणेशीलाल व्यास "उस्ताद" ने संगीत एवं नृत्य नाटिकाओं का सृजन कर राजस्थानी भाषा की अपार क्षमता का परिचय दिया है।

राजस्थानी की इस नई काव्य धारा के साथ साथ प्राचीन काव्य धारा भी प्रवहमान है। इस प्राचीन काव्य धारा के प्रमुख कवि हैं श्री उदयराज उज्ज्वल, नाथूदान महियारिया, रावल नरेन्द्र सिंह, कविराव मोहनसिंह, हनुवन्त सिंह देवड़ा, मुकन सिंह आदि। इन कवियों में शिल्प विधान तो पुराना ही है पर वस्तु में देश काल की बदलती हुई परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब स्पष्ट झलका है। प्राचीन शास्त्रीय छन्दों मे ही इन कवियों ने राष्ट्र के नव निर्माण को अपनी ओजस्विता और देश के जन नेताओं को अपनी भावभरी श्रद्धाजंली समर्पित की है। "धूड़सार" और "भानियारा दूहा" में उदयराज उज्ज्वल का देश प्रेम हिलोरें लेता हुआ प्रती ोता है तो 'वीर सतसई' में नाथूदान महियारिया का क्षात्र-धर्म स्वतंत्र भारत की जन शक्ति को बलिदान का पाठ पढ़ाता हुआ दिखाई देता है।

राजस्थानी का नया साहित्य पद्य की भाँति गद्य में भी मिलता है। यह गद्य प्राचीन गद्य की भांति विविध और विस्तृत तो नहीं है पर इसमें सामाजिक पक्ष अधिक उभरा है। कथा साहित्य और नाट्य साहित्य के रूप में ही यह गद्य अधिक लिखा गया है। कथाकारों में श्री मुरलीधर व्यास, नृसिंह राज पुरोहित, लक्ष्मीकुमारी चूंडावत, विजयदान देथा और नानूराम संस्कर्ता के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। "बरसंगाठ" श्री मुरलीधर व्यास की कहानियों का संग्रह है। इन कहानियों में सामान्यतः ग्रामीण वातावरण में पले निम्नवर्गीय पात्रों को प्रधानता दी गई है—ऐसे पात्र जिनको समाज ने हमेशा उपेक्षित रखा है। 'मतीरा आलों' 'लादेआलों' आदि ऐसे ही पात्र हैं। इनका कहीं तो उच्च वर्ग से संघर्ष कराया है। कहीं अपनी ही कमजोरियों से युद्ध। अन्त में प्रेमचन्दी आदर्श को ही सामान्य रूप से अपनाया गया है। नृसिंह राज पुरोहित की कहानियों में कलात्मकता अधिक है "रातवासो" की कहानिया यथार्थ जीवन को चित्रित करती हैं तटस्थ दृष्टि से, उसमें प्रेमचन्दी आदर्शवाद का आग्रह नहीं है। इनमें एक ओर पूंजीवादी सभ्यता पर तीक्ष्ण प्रहार किया है तो दूसरी ओर अन्धविश्वासों को छिन्न भिन्न कर कुल मर्यादा की रक्षा की गई है। वातावरण के सृजन में लेखक को पूर्ण सफलता मिली है। लक्ष्मीकुमारी चूंड़ावत की कहानियां राजस्थानी लोकगाथाओं से प्रभावित हैं। पुरानी बोतल में नई शराब भर कर उन्होंने जो मांझलरात, मूमल, कैरे चकवा वात आदि कृतियां

दी हैं उनमें कथा का प्रवाह, भाषा का माधुर्य और वातावरण का जीता जागता चित्र देखने को मिलता है। लोकगाथाओं को ही आधार बनाकर कहानियां लिखने वाले हैं श्री विजयदान देथा। इनकी दृष्टि ऐतिहासिक पक्ष पर इतनी नहीं रहती जितनी समाज विश्लेषण की ओर। इनकी कहानियों में पात्रों का मानसिक द्वन्द्व अधिक उभरा है। बातों की ये फुलवाड़ियाँ समाज को स्वस्थ चिन्तन की ओर मोड़ने में विशेष सहायक होंगी। संस्कर्ता का 'ग्योही' कहानी संग्रह' ।मीण जीवन को प्रस्तुत करने में सक्षम है।

कहानी की भांति राजस्थानी में उपन्यास नहीं लिखे गये। केवल 'आभे पटकी' उपन्यास सामने आया है। इसमें श्रीलाल नथमल जोशी ने विधवा विवाह की समस्या को उठाया है। परिवर्तित परिस्थितियों में विधवा किशना का विवाह उसके देवर मोहन से करा कर लेखक ने सुधारवादी भावना को बल दिया है। वर्ण्य विषय में यद्यपि कोई नवीनता नहीं है तथापि भाषा शैली की रोचकता पाठक को अन्त तक आकर्षण में बांधे रखती है। बदरी प्रसाद साकरिया की 'अनोखी आन' उपन्यास कोटि की रचना तो नहीं है पर उसमें तोगा की तलवार का जो जौहर चिचित्र किया गया है वह पर्याप्त रोचक है। इसमें स्थान स्थान पर पात्रों के संवाद भर राजस्थानी में हैं।

कथा साहित्य के साथ साथ जो रेखाचित्र राजस्थानी में लिखे गये हैं वे बड़े प्रभावशाली बन पड़े हैं। 'सबड़का' में श्री लाल नथमल जोशी के ३१ रेखा चित्र संगृहीत हैं। इनमें एक साथ कविता, कहानी, लेख और संस्मरण का आनन्द आता है। जगह जगह हास्य और व्यंग की पिचकारियाँ छूटती चलती हैं। यहाँ जो पात्र हैं वे विशिष्ट वर्ग के प्रतिनिधि नहीं हैं, छोटे लोगों को ही सहानुभूति की आंखों से देखा गया है 'फर्रामल' गुलछर्रामल, मक्खणसा, फड़दपंच, मसाणियां, अचारजी आदि खड़ी भीड़ में भी आसानी से पहचाने जा सकते हैं। इनका नामकरण इस ढंग से किया गया है कि उसकी ध्वनि मात्र से पात्र का आधा वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाता है। श्री मुरलीधर व्यास और भंवर लाल नाहटा ने भी कई व्यंग्यपूर्ण रेखाचित्र लिखे हैं।

श्री कन्हैया लाल सेठिया ने गद्य-काव्य के क्षेत्र में भी कई सफल प्रयोग किये हैं। 'गलगचिया' में इनके ६४ गद्य चित्र हैं। इनमें वे स्थूल से सूक्ष्म की ओर गये हैं। लोक जीवन में व्याप्त उपमाओं का सहारा लेकर, प्रकृति के

विविध कार्य व्यापारों के आलोक में उन्होंने जीवन के कई बनते बिगड़ते आदर्शों को देखा है ।

नाट्य क्षेत्र में भी कई प्रयत्न हुए हैं । नाटककारों में भरत व्यास, आज्ञाचन्द भण्डारी, गिरिधरलाल शात्री आदि के नाम लिये जा सकते हैं । इन नाटकों की पृष्टभूमि सामाजिक न होकर ऐतिहासिक रही है । भरत व्यास के ' ढोला मरवण ' में नाटकीय रोचकता है । भण्डारी के 'पन्नाधाय' व शास्त्री के 'प्रणवीर प्रताप ' नाटक में कोई नवीनता नहीं । एकांकी नाटक लिखने वालो में प्रो० गोबिन्दलाल माथुर का नाम प्रमुख है । 'सतरंगिणी' में संगृहीत एकांकी सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित हैं । ये समस्याएँ चिर परिचित हैं । यथा: दहेज, छूआछूत, बाल विधवा आदि । इनका चित्रण यथार्थ है । इनमें व्यंग्य का जो पुट दिया गया है वह बडा प्रभावशाली है । श्री नागराज ने 'इब तो चेतो' में ग्रामीण जीवन में व्याप्त कुरीतियों को एकांकी का विषय बनाया है । इनके एकांकियों में आदर्श का पुट है । प्राय: डाक्टर, मास्टर आदि बीच में आ-आ कर समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत कर देते हैं । श्री नारायण दत्त श्रीमाली ने ऐतिहासिक पृष्टभूमि पर आधारित सुन्दर एकांकियों का सृजन किया है ।

राजस्थानी के साहित्य में अनुवाद की अपनी विशिष्ट स्थिति है । संस्कृत अंग्रेजी, बंगला आदि भाषाओं की महत्वपूर्ण कृतियों का अनुवाद राजस्थानी ने इस दशक में प्रस्तुत किया है । कालिदास के 'मेघदूत' के पांच अनुवाद हुए हैं । इसके अतिरिक्त भर्तृहरि के तीनों शतक, कालिदास के ऋतुसंहार,कुमार संभव, रघुवंश, उमर खैयाम की रूबाइयाँ, रवीन्द्र की गीतांजलि, रवीन्द्र की कहानियाँ, शेक्सपियर की कहानियाँ, पंचतंत्र की कहानियाँ आदि भी अनुवादित हुई हैं । ये अनुवाद गद्य और पद्य दोनों में समान रूप से चले हैं । अनुवाद की इस परम्परा का भविष्य काफी उज्ज्वल प्रतीत होता है ।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि स्वतंत्रता के बाद, प्राचीन राज–स्थानी साहित्य के अनुसंधान एवं प्रकाशन का कार्य तो तीव्र गति से हो रहा है पर सम्प्रति कविता और कहानी को छोड़कर अन्य विधाओं में राजस्थानी के रचनात्मक साहित्य के निर्माण की गति तीव्र नहीं है । कहानी में भी लोक-जीवन का वह यथार्थ चित्रण नहीं मिलता जिसकी आज अपेक्षा है । प्राचीन लोक कथाओं को अपनी भाषा में रूपान्तरित कर देना अथवा उनका अपने ढंग से

विश्लेषण कर देना महत्वपूर्ण कार्य होते हुए भी मौलिक सृजन तो नहीं है। आज आवश्यकता इस बात की है कि राजस्थान के विभिन्न जनपदों में व्याप्त कंजर, भील, गाड़िया लुहार आदि जातियों के जीवन और कार्यों को अपना वर्ण्य विषय बनाकर आंचलिक कथा-साहित्य का निर्माण किया जाय। फिर भी जो कुछ लिखा जा रहा है उससे आशा बंधती है कि राजस्थानी में नये विचारों को वहन करने की क्षमता और भावों की सूक्ष्म पकड़ है।

— —